कुछ शब्द

'अंबपाली' के बाद यह मेरा दूसरा प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास आपके हाथ में है। 'अंबपाली' की भाँति इसमें भी ऐतिहासिक तत्त्वों की रक्षा और वासुदेव धर्म के प्रवर्तन की महान् क्रांति को जीवित करने की चेष्टा की गई है। भारतीय इतिहास के एक महान् संक्राति-काल की प्राण-प्रतिष्ठा करने में लेखक कहाँ तक सफल हुआ है, यह मौर्यों और शुङ्गों के इतिहास को जानने वाले देखें।

'जय वासुदेव' की कथावस्तु के संबंध में मुझे कुछ कहना है। प्रसाद जी की 'इरावती' से पाठक परिचित होंगे। परंतु दुर्भाग्य-वश 'इरावती' अपूर्ण है। काल के कुचक्र ने उसे अपूर्ण ही रहने दिया है। उसे पूर्ण करने का साहस करना धृष्टता होती। इसीलिये 'इरावती' के कथानक से सहारा लेकर, कुछ पात्रों की सामान्य रूपरेखायें वहीं से ले एक महान् राजनैतिक क्रांति को केन्द्र बनाते हुए नया मौलिक उपन्यास लिखने का प्रयत्न किया गया है। 'इरावती' का ऋण तो इस उपन्यास पर है ही, परंतु वह 'इरावती' नहीं है, यह भी निश्चित है। यदि प्रसाद जी 'इरावती' को समाप्त कर सकते, तो वह निश्चय ही इस उपन्यास से भिन्न होती।

यह उपन्यास जिस समय लिखा गया था, उस समय भारत अखंड था। आज खंडित भारत के लिए उत्तर-पश्चिम एक महान् समस्या बन गया है। शुङ्गों के समय में भी उत्तर-पश्चिम में एक महान् राष्ट्रीय समस्या उठ खड़ी हुई थी। उस समय महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने अखंड भारत का सपना देखा और पुष्यमित्र और चक्रवर्ती खारवेल ने खड्ग से

बल पर इस सपने को सत्य किया। अखंड भारत का यह सपना क्या फिर सच बन सकेगा? अज्ञात रूप से ही आज की जो अनेक समस्याएँ इस प्राचीन ऐतिहासिक कथा में गुँथ गई हैं, वे काल-चक्र की नित्यता ही प्रामाणित करती हैं, उनके लिए लेखक ने इतिहास का व्यतिक्रम नहीं किया है।

एक बात और। नागसेन और मिलिंद के दार्शनिक वार्तालाप के लिए लेखक राहुल जी के "बौद्ध दर्शन" का आभारी है। उन्होंने यह प्रसंग भिक्षु जगदीश काश्यप के 'मिलिंद प्रश्न' के अनुवाद से लिया है, परन्तु 'मिलिंद प्रश्न' तक जाना मेरे लिए अनावश्यक था।

आशा है, भारत के प्राचीन गौरवमय इतिहास का यह राजनैतिक और सांस्कृतिक चित्र—'जय वासुदेव' आज की स्वतंत्र भारत की पीढ़ी को रुचेगा।

रामरतन भटनागर

जय वासुदेव

१

दूर नीले क्षितिज पर प्रभात जाग रहा था।

महर्षि पतंजलि के आश्रम के लता-कुंजों को नए प्रभात की हिलोर मिल चुकी थी और दक्षिण-पवन मंद मंथर चाल से चल अपनी चपल अँगुलियों से हरसिंगार के फूल तोड़ चुका और माधवी को थपका चुका था। रात भर कमल-क्रोड़ में भौंरों का बन्दी-गुन्जन अभी क्षण भर बाद मुक्ति की प्रसन्नता में और भी मुखर। तभी इन्दु चम्बल के जल में स्नान कर लौटी, होठों में मंद-मंद प्रार्थना गाती, जल की तूँबी बगल में। अभी रत्नाम्बर और दिवाकर दो ही जागे थे। दोनों तरुण युवक, आँखों में वसंती मदिरा और मसें भीगती हुईं। दोनों महर्षि के प्रिय शिष्य थे। कुश की पाटी पर पालथी मार कर बैठे रत्नाम्बर ने कहा—

"क्या नहा आई, बहिन इन्दु ?"

'हाँ, रत्नाम्बर'।

इतनी सवेरे—रत्नाम्बर अँगड़ाई लेकर खड़ा हो गया—भाई दिवाकर, आज आचार्य आ रहे हैं, तेरा अष्टाध्यायी का पाठ तैयार है ?

इन्दु ने झारी एक ओर रख दी और भीतर से कलश लाकर लताओं-वृक्षों को पानी देने चली।

'अष्टाध्यायी याद कहाँ, यहाँ तो सब गुड़-गोबर'—इस प्रकार कुंठा का भाव बिखेरते हुए दिवाकर बोला कि रत्नाम्बर को हँसी आ गई। वह उसे खिजाने के लिए नाक में बोला—'वही पाणिनी, पाणिनी, पाणिनी! वही लिट्—लकार, खच-खच खचांकार'! और उसने ठहाका दिया।

'इन्दु बहन'—बकुल की ओर जाती हुई इन्दु को बुलाते हुए उसने कहा—'रे बहन, देख, तेरे इस बन्धु दिवाकर ने पाणिनी का श्राद्ध कर डाला आज।'

इस बार अकुंठित, उत्साहित हो दिवाकर ने चिल्ला कर कहा—'देख इन्दु बहना, कुश लाने का समय हो गया, अग्नि प्रज्ज्वलित करना है, घंटों अरणि रगड़ेगा, और यह रत्नाम्बर कैसे ऐंठ रहा है!'

इन्दु ने वहीं से कहा—'तुम दोनों झगड़ोगे तो पिता से कह दूँगी मैं, समझ रखना।'

'न न न'—दिवाकर बोला। 'यह चाणक्य का चाचा मुझे दंडित करा आप बच जायगा। क्यों ब्राह्मण विष्णुदास के इष्णुदास के कृष्णदास के......'

'नाती'—रत्नाम्बर ने कहकहा लगाया। उधर इन्दु ने पुकारा, 'आओ, आओ, मालती इधर, गोविन्दी इधर, मैना इधर, इरा इधर!' क्षण भर में आश्रम की हरिणियाँ उसे घेर कर खड़ी हो गईं और चमत्कृत नेत्रों से उसे देखने लगीं। इन्दु उसे धीरे-धीरे नया तृण देती और उसके हाथों से तृण लेकर हरिण-हरिणियाँ और छौने इधर-उधर उसके चारों ओर कूदते। किलक-किलक बार-बार कभी उसकी ओर, कभी रत्नाम्बर-दिवाकर की ओर देख कर अपना हर्ष प्रकट करते। वहाँ दिवाकर शायद अष्टाध्यायी की चिन्ता में बैठा ऊँघ रहा था और इन्दु के

जानते न जानते रत्नाम्बर मुग्ध नेत्रों से इस ऋषि-कन्या की ओर देख रहा था। सिर के पीछे बँधे हुए जूड़े के नीचे सद्यः-स्नान से झरतीं जलबिन्दु और ऊपर गुँथे दो चार जवाकुसुम। आश्रम में इतने शृङ्गार की मनाही नहीं थी।

प्रभात की वेला थी। आश्रम के बकुल, आम्र और मौलसिरी के वृक्षों के बीच से बाल काश्यप धीरे-धीरे क्षितिज के ऊपर चढ़ आए, धीरे-धीरे किरणों की रक्तिम उँगलियाँ फैला कर उन्होंने आश्रम की लता-बेलों को स्पर्श किया और बन-पक्षियों ने जाग कर सारे वातावरण को एकदम हिल्लोलित आन्दोलित कर दिया। दिवाकर उसी तरह ओंघता सोता रहा और रत्नाम्बर लता कुंजों में कभी दीख रही, कभी ओझल, मृग-शावकों के बीच चलती, यौवन की पहली सीढ़ी पर चढ़ती बन-बालिका इन्दु को मुग्ध देखता रहा। उसका यह मौन मुग्ध भाव तब टूटा जब इन्दु ने अदृश्य ही पुकारा—रतन भाई, कलश खाली हो गया और अभी प्यारी माधवी लता को सींचना है, आश्रम से दूसरा कलश लाना।

चौंक कर 'लाया' कहता हुआ रत्नाम्बर भीतर गया।

देखा, भीतर कुटी का सामान सब यथा-स्थान है, सारी कुटी और सामने के आसन झाड़ दिये गये हैं, पुस्तकें और पांडुपत्र सजा कर रखे हुए। एक ओर महर्षि का आसन है, पुस्तक-पत्र हैं। एक खूँटी पर इन्दु की वीणा भी देखी। तार छेड़े, सुर मिले थे। कितने दिन से इस बालिका ने वीणा नहीं छुई। परन्तु आज तो पिता महर्षि आ रहे हैं, पिता का स्नेह उसे चंचल किये है। झारी लेकर बाहर आया। तब तक दिवाकर लेट कर खुर्राटे भरने लगा था।

धीरे-धीरे वह कुंजों की ओर जा रहा था।

चम्पा हँसती हुई आई और उसके शरीर को चाटती हुई उसके साथ चलने लगी। 'दुत, दुत, दुत'।

"कौन है ?"—कुंजों में से बोली इन्दु ।

इन्दु बाहर निकल आई । 'अरे भाई रतन ! लाओ इस कलश में, पानी डालो और देखो, भाई, चम्पा को मत कहो दुत, दुत, दुत ।'

चम्पक-सी खिली भोली हँसी और आँखें चंचलता से चमकीं ।

रत्नाम्बर ने झारी का पानी उसके कलश में लौट दिया और मुग्ध भाव से उसे देखता हुआ बोला—'क्यों नहीं करूँ दुत् ? अभी सवेरा नहीं हुआ और इसे चाहिए भोजन, सेवा ।'

'दुत'—चमक कर इन्दु एक पेड़ के पीछे जा उसे जल देने लगी ।

'अरे, तुम और दिवाकर दोनों अब तक ऊँघते थे । कहूँगी, न यह पाणिनी पढ़ता है, न वह चाणक्य ! और दोनों लड़ते हैं ।'

कलश लेकर लौटते हुए रत्नाम्बर ने उत्तर दिया—'क्यों इन्दु, यदि पाणिनी और चाणक्य उस तरह इकट्ठे हो जाते जैसे मैं और दिवाकर तो भला पटती । मैं तो समझता हूँ, चाणक्य पाणिनी का गला घोंट देता ।'

उसने दिवाकर को ज़ोर से पुकारा, 'ओ रे खट् खट् खटांकार, खच-खच खचांकार !' तब तक दिवाकर भी जाग गया था और सचेतन हो कुंज की ओर देखता था । उसने वहीं बैठे हुए चिल्ला कर कहा—'हाँ रे ब्राह्मण विष्णुदास के परपौत्र ।'

दोनों ने ठहाका लगाया ।

इन्दु ने कुंज के बाहर निकलते ही कहा—'यह तुम दोनों हँसी-दिल्लगी में ही सारा समय निकाल दोगे या गायों को भी दुहोगे ।'

चम्पा उसकी ओर मुँह कर रँभाई ।

'अच्छा, अच्छा' उसके गले में झूलते हुए मांस पर हाथ फेरते हुए आगे बढ़ती हुई इन्दु बोली—'अभी बहुत काम है ।'

और उसने दोनों हाथों को शंख की तरह मिलाकर ध्वनि की । क्षण मात्र में आश्रम की बीस-बाईस गाएँ रँभाती, सींगों को पृथ्वी से छुलातीं—ऊपर उठातीं उन्हें घेर कर खड़ी हो गईं, पीछे उनके बालक उछलते-

कूदते आए। इन गायों और बछड़ों से इन्दु को कितना स्नेह, कितनी ममता है! तभी किसी ने दूर गंभीर मंजु घोष किया—'अतिथि आए हैं।'

'अतिथि!' चमत्कृत हो बालिका ने पुकारा। तीनों ने आश्रम के सामने उसका स्वागत किया। युवक, मुख पर तेज, साहस और प्रतिभा, आँखों में शौर्य और चमक। निःसन्देह क्षत्रिय-कुमार है, हाथ में बाँसुरी। कदाचित् मार्ग भूल गया—"आचार्य हैं?"

"नहीं हैं"।

"कब लौटेंगे?"।

"अभी, आज। तब तक बहिन इन्दु तुम्हारी अभ्यर्थना करेंगी" रत्नाम्बर ने कहा। 'यह आचार्य की कन्या है।'

'धन्य हो देवि', आगन्तुक बोला।

तीनों के साथ युवक भी चला।

अग्निहोम के कुण्ड के पास कुशासन पर बिठा कर, अभी दुहे हुए दूध से अतिथि का स्वागत किया गया। रत्नाकर और दिवाकर खडक में जाकर गायों को दुहने लगे और इन्दु लता-बेलों को पानी देने और आश्रम के पशु-पक्षियों की देख-भाल में लगी। तरुण युवक के मुख पर चिन्ता की रेखाएँ थीं, वह युवती की चाल का अनुकरण करता हुआ, रात भर की अलसाई आँखों से कुछ देखता रहा। गौरवर्ण, रक्तबीज की तरह रतनारी आँखें जो इस प्रभात में भी नैश जागरण के कारण संध्या की अलस-आभा लिये थे, दृढ़ स्कंध और सुडौल बाहु, गले में झूलता रेशम का पट्टवास। इन्दु बार-बार आँख बचा कर उसकी ओर देख लेती। इस तरह सबको काम करते बहुत देर हो गई। वातावरण शांत था। केवल प्रभात के चारण वन-पक्षियों की चहक, दूर नदी-पार मल्लाहों की आवाज़ 'ऐहियो, ऐहियो', और कभी-कभी खडक में गायों के रँभाने का शब्द।

सहसा वातावरण वंशी के मधुर स्वरों से आन्दोलित हो गया, तब कुछ विस्मय, कुछ विक्षुब्ध हो इन्दु ने पथिक की ओर देखा। वह वंशी पर भैरवी बजा रहा था। उसने सोचा, युवक उच्छृङ्खल है, आश्रम की दिनचर्या का उसे पता नहीं, कदाचित् वह आश्रम के नियमों को नहीं जानता, कम से कम इस तरह पूछे बिना उसे वंशी नहीं बजानी चाहिए थी। परन्तु वह तो भैरवी के सुर निकाले जा रहा था। अनन्त आकाश में वंशी की कोमल-कांत स्वर-लहरी भर गई और इन्दु केवल विस्मित, मुग्ध और उत्कंठित हो उसे देखती रह गई।

कब युवक ने वंशी बजाना बंद किया, कब अनन्त आकाश में झूलती स्वर-लहरी धीरे-धीरे बंद हो गई, कब वातावरण फिर पहले की तरह शान्त हो गया, यह युवती ने नहीं जाना। परन्तु जब यह सब हो गया, तो उसके पैर अनायास ही युवक की ओर बढ़ गये।

'अतिथि, तुम वंशी बड़ी सुन्दर बजाते हो'।

'हाँ, देवि'।

'यह कला तुमने कहाँ सीखी ?'

युवक ने उसे चकित करते हुए कहा—'क्यों, क्या आचार्य तुम्हें वीणा नहीं सिखाते ?'

'हाँ, सिखाते तो हैं, परन्तु यह वंशी की उत्कृष्ट कला उन्होंने मुझे भी नहीं सिखाई !'

युवक हँसा।

'उसने कहा—आचार्य तुम्हें क्या कह कर पुकारते हैं,+ + +क्या इन्दु ?'

झेंप कर इन्दु ने पूछा—'तुमने मेरा नाम कैसे जाना ?'

युवक ने निस्पृह भाव से कहा—'ब्रह्मचारी ने तुम्हें इस नाम से पुकारा था जब मैं वंसी बजा रहा था।'

अग्नि प्रज्ज्वलित हो चुकी थी और यज्ञ देवता
तीनों प्राणी सन्तुष्ट हो चुके थे। एक विचित्र
थी वह। ऐसे समय रत्नाम्बर को कुछ उचाट-
सामने आ बैठा।

नहीं बताया कि हम आपको क्या कहें।"

?" मुस्कराते हुए युवक ने कहा।

शायद युवक को यह सब अच्छा नहीं लगा,
नाम-रहित ही रहना चाहता है। उसने प्रश्न

की स्वर-लहरी बड़ी मादक है।" भाव से

कहा—'ब्रह्मचारी! यह सब आपके आचार्य
कि यह तुम्हारा अतिथि भी उनकी शरण

कहा—'इधर कुछ वर्षों से तो मैं आचार्य
भी उल्लेख नहीं करते।'

हिलने-डुलने का शब्द। कभी-कभी कोई गायों को उत्साहवर्धक शब्द भी कह देता था या नाम लेकर पुकारता था। इन्दु के कान में अब भी वंशी के शब्द गूँज रहे थे। उसके मुख पर परिश्रम की बूँदें झलक आई थीं और दूध की कुछ छींटें उड़ कर उसके ललाट, कपोल और बालों में झूल रही थीं।

क्या वह जानती थी कि ताड़ों की आड़ से अतिथि उसका वन्य सौन्दर्य देख रहा है?

तभी बगल से रत्नाम्बर ने इन्दु के मुख पर दूध की हलकी धार दी और अतिथि मुसकुराता हुआ अपने आसन पर लौटा।

२

इसी तरह वह दिन बीत गया और दूसरा दिन आया। आचार्य न आये और पथिक प्रतीक्षा करता हुआ ठहरा रहा। क्यों नहीं आये, यह प्रश्न इन्दु को चिन्तित बनाये हुए था और उसकी चिन्ता की छाया पथिक, रत्नाम्बर और दिवाकर तीनों पर पड़ी। बीच-बीच में विषाद के कोमल मन्द स्वरों में तीव्र सम्वेदनाशील स्वर की भाँति। अतिथि की वंशी बजती रही और इन्दु उस पर, उसके बजाने वाले पर मुग्ध होती रही। अब तक वह ऋषि-कुमारों और बनवासियों में रही थी, अब तक उसका जीवन वर्षा के जल से स्वाभाविक रूप से सिक्त लता की भाँति वन्य सौन्दर्य और अभिनव स्वतंत्रता के साथ बेकाट-छाँट बेरोक-टोक बढ़ता रहा, परन्तु अब इस सहज गान में एक विवादी स्वर लगा। वह आश्चर्य से अभिजात्य के तिलिस्म से उभर कर आये उस युवक को कौतुक-दृष्टि से देखती।

दोपहर हो गई थी। अग्नि प्रज्ज्वलित हो चुकी थी और यज्ञ देवता की हवि पाकर आश्रम के तीनों प्राणी सन्तुष्ट हो चुके थे। एक विचित्र प्रकार की अलस दुपहरी थी वह। ऐसे समय रत्नाम्बर को कुछ उचाट-सा लगा। वह अतिथि के सामने आ बैठा।

"आर्य, आपने यह नहीं बताया कि हम आपको क्या कहें।" "अतिथि का नाम-धाम क्या?" मुस्कराते हुए युवक ने कहा।

"फिर भी।"

युवक चुप रहा।

रत्नाम्बर को लगा, शायद युवक को यह सब अच्छा नहीं लगा, शायद वह नाम-रहित, धाम-रहित ही रहना चाहता है। उसने प्रश्न छोड़ दिया।

"आर्य, तुम्हारी वंशी की स्वर-लहरी बड़ी मादक है।" भाव से उसकी आँखें डबडबा गईं।

पथिक ने अन्यमनस्क हो कहा—'ब्रह्मचारी! यह सब आपके आचार्य की ही कृपा है। कई वर्ष पहले यह तुम्हारा अतिथि भी उनकी शरण रह चुका है।'

'आश्चर्य है' रत्नाम्बर ने कहा—'इधर कुछ वर्षों से तो मैं आचार्य के साथ हूँ, आचार्य आपका कभी उल्लेख नहीं करते।'

युवक मुसकुराया।

उसने कहा—'ब्रह्मचारी, तुमने आचार्य को केवल बाहर से देखा, उनके भीतर के ज्ञान गंभीर समुद्र के भीतर हिल्लोल उठाते हुए प्रेम के अम्बुधि को नहीं परखा। क्या तुम्हें मेरी बात पर विश्वास नहीं है?"

इसी समय आया दिवाकर। उसने दीवार में टँगी वीणा उतार कर युवक के आगे धर दी कि बजाये।

अनायास स्वर छेड़ते हुए अतिथि ने कहा—'बहुत दिनों तक मेरा

आचार्य का सम्बन्ध रहा, यह मैं नहीं कहूँगा, पर मैं अपने इस अल्प ज्ञान के लिये उनका आभारी ही हूँ। क्यों? दिवाकर की ओर देखकर वह मुसकराया—

"आर्य वीणा बजायें।"

दिवाकर भी समझ गया था कि युवक संभ्रान्त युवक है, इसीसे यह संभ्रान्त सम्बोधन। उसी तरह स्वर छेड़ते हुए युवक ने कहा—'वीणा-वादिनी सरस्वती तो यहाँ उपस्थित ही नहीं।'

और साथ ही रत्नाम्बर ने इन्दु को पुकारा—'अरी इन्दु, इन्दु, आओ!'

इन्दु को इस गोष्ठी का पता ही नहीं, यह बात नहीं, इस गोष्ठी में होना वह नहीं चाहेगी, यह बात नहीं। परन्तु उसके भीतर-भीतर जो भर आया, जिसने आज एकत्र जैसे अभाव को पूर्ण कर लिया है, उसे जो रिक्त थी, भरा-भरा कर दिया है, वह स्पष्ट, ज्ञात भी अज्ञात कुछ ऐसा ही भाव लेकर वह एकांत में डूबी बैठी है। आश्रम के पीछे पास के आम पर कोयल कूकी।

कुहू, कुहू, कुहू।

इन्दु ने सोचा—आह, कैसा है वह तरुण। यह तो न दिवाकर जैसा है, न ही है यह रत्नाम्बर जैसा।

'तब कैसा?'—उसके मन ने पूछा। उत्तर डाल पर बैठी अपनी प्रतिध्वनि से ही होड़ करती हुई कोयल ने दिया।

कुहू, कुहू, कुहू।

यही कि यह तरुण कुहू कुहू कुहू जैसा है।

एकदम कुहुक पहेली, आश्चर्य।

उसने सोचना जारी रखा।

उसे वह दिन याद है, धुँधला, धुँधला, धुँधला।

चार-पाँच की थी वह, कुछ यों ही बोलचाल लेती थी। कोई स्नेह-

मयी अंचल से ढकी रहस्यमयी, आँखों से अजनबी, करुणामय मातृ-मूर्ति उसके सामने आयी। उसे ही तो कहते हैं माँ। उसका स्नेह उसने कहाँ जाना! वह तो पिता की स्नेह छाया में पली, पल कर बढ़ी, बढ़ कर किशोरी हुई और अब कुमारपन और यौवन की दहलीज पर खड़ी।

यह पिता आज रह गये, नहीं आये, क्यों नहीं आये। सबके चाहे कुछ हों, गुरु हों, आचार्य हों, नेता हों, पूज्य हों, उसके तो वे पिता हैं। इन पिता ने उसको माता का दुःख भुला दिया है। यह पिता स्नेह में माता नहीं तो क्या? वह चाहती है, पिता की स्मृतिमूर्ति के गले दौड़ कर लिपट जाये। आनन्द की महान महिमा की साक्षात् मूर्ति उसके पिता। परन्तु तभी दो चेहरे आँखों के आगे डूबते उतराते। यह रत्नाम्बर है। यह आगन्तुक पथिक है, युवा है। उसे इस तरह कातर, सम्भ्रम नहीं होना चाहिये।

तभी आवाज़ आई रत्नाम्बर की—'ओ री इन्दु, इन्दु।' और रत्नाम्बर की आवाज पर यदि गई नहीं तो वह भी दौड़ा आयेगा, दौड़ा आयेगा।

उसे भी गोष्ठी में मिल जाना चाहिये।

तरुण ने उसकी ओर वीणा बढ़ा कर कहा—'तुम बजाओ', तो वह झेंप गई। वीणा वह बजाती नहीं, यह बात नहीं, परन्तु वह झेंप जरूर गई। तीनों के आग्रह पर उसने एक गत बजाई। अभी अँगुलियों में निपुणता नहीं आई। कच्चा-कच्चा सा लगता है परन्तु फिर भी अच्छा तो है ही। उसके मन में वही कोयल का गीत गूँज रहा था, कुहू, कुहू, कुहू। वह पूछती थी, इसके अर्थ? परन्तु उत्तर में फिर कुहू, कुहू, कुहू। कौन कहता है, महर्षि के होमपूत आश्रमों में पंचशर के पुष्प-बाण नहीं चलते।

सहसा गत के बीच में ही उसने वीणा छोड़ दी। वह कुछ

चंचल हो रही थी। "यह तो अच्छा बजाती हैं न! देवि, यह क्या बजाया?"

उसी तरह सहसा इन्दु अट्टहास कर पड़ी—'क्या बजाया, खच-खच खचांकार।'

'पाणिनी! पाणिनी! पाणिनी'—रत्नाम्बर ने आवृत्ति की।

झेंपा विचारा दिवाकर!

'आर्य, रत्नाम्बर की भाँति मैं संगीत को समझ नहीं पाता'—संकोच में सिमट दिवाकर ने सफ़ाई दी।

पथिक ने इन्दु को साधुवाद दिया।

अब इन्दु भी दिवाकर के आग्रह में मिल गई कि वह पथिक भी बजाये। पक्ष में बल पड़ा। बजाये बिना छुट्टी नहीं। तरुण ने तार छेड़े और उँगलियाँ तारों पर दौड़ने लगीं।

दूर कहीं सितारों का लोक है, जिसमें एक बड़ा भारी सरोवर है। उसे न हमने देखा है न आप ने। उस सरोवर में सात कमल हैं, हीरे के उनके पत्ते हैं और मानिक का उनका मृणाल। पर उस नन्दन कानन में बहती हुई पवन की हलकी हिलोल को छूकर वह झूमते हैं तो एक सात स्वरों का सङ्गीत उनमें जाग उठता है। इस संगीत को तो हम सुन नहीं पाते, ऊपर के लोक में रहने वाले देवता ही सुनें। परन्तु तारों की झलमलाहट में हम उन सात कमलों का नन्दन-पवन में नृत्य अवश्य देखते हैं। बड़ा दूर का देश है वह जहाँ पहुँच सकते हैं केवल ऐसे मुग्ध भृङ्ग जिन्होंने वासना की गन्ध न पाई हो। ऐसे ही किसी तारा लोक में पहुँच कर जाग उठी इन्दु, जब तक अतिथि वीणा बजाता रहा।

अवरोह के स्वरों ने उसे झंझोर कर परिस्थिति का ज्ञान करा दिया। वह पिता के आश्रम में ही है और सामने बैठा हुआ, कुछ

लज्जालु, कुछ उद्धत एक युवक वीणा बजा रहा था। अब वीणा उसने एक किनारे रख दी है और बात करने को तैयार है।

'आर्य तो चमत्कार करते हैं'—रत्नाम्बर बोला।

युवक ने मुस्करा कर उसकी ओर देखा। सचमुच उसने चमत्कार किया है, वह जानता है। नहीं तो सामने बैठी हुई लज्जा में पड़ी किशोरी एकटक अनिमेष उसे क्यों देखती रह जाती?

फिर उस दिन रात को वीणा बजना आवश्यक बात थी और चाँदनी रात में नीले आकाश के नीचे दुपहर का चमत्कार कई गुना अधिक चमक उठा। रत्नाम्बर ने सोचा, चाणक्य का जीवन व्यर्थ गया। दिवाकर पाणिनी के उन सूत्रों की बात सोच रहा था जो इस संगीत की तरह मधुर नहीं सही, इस संगीत की तरह अर्द्ध स्पष्ट अर्थ की गाथा बिखेरते हैं।

तभी दूर से भेरी का स्वर हुआ, तीन बार तुरही के गम्भीर घोष से चाँदनी में डूबा स्तब्ध बन-प्रांत झकोर दिया गया। युवक उस स्वर को सुन कर मुसकराया। क्षण भर में आश्रम का प्रांगण सैकड़ों उल्काधारी अश्वारोहियों से भर गया। प्रधान अश्वारोही उतर कर अतिथि के सामने आया। उसने अभिवादन किया।

युवक खड़ा हो गया। रहस्य-भरी दृष्टि एक बार इन्दु पर डालते हुए उसने पूछा—'क्यों, चक्रधर, आखिर वीणा ने तुम्हें मेरा पता दे ही दिया न।'

वह मुसकराया।

"हाँ, आर्य, अमात्य ने हमें इसी ओर भेजा था। सेना दक्षिण की ओर अभियान करेगी। और सम्राट् के सेनानायक का इस अवसर पर पाटलिपुत्र होना आवश्यक है।"

"मैं इस कृत्य को भूला नहीं था, चक्र, परन्तु तुमने आकर अच्छा नहीं किया। क्या मेरे लिए अश्व है?"

कई उल्काधारी एक अश्व लेकर सामने आए। अतिथि ने रत्नाकर, दिवाकर और इन्दु की ओर देखते हुए कहा—'ब्रह्मचारी, महर्षि से कहना, अग्नि चरणों में उपस्थित हुआ था।" वह रुका "और तुम्हें और इन्दु को हमारा प्रणाम। आचार्य कुल के नाते।" मुस्करा कर वह अश्वारूढ़ हो गया।

आगे-आगे अतिथि, पीछे चक्रधारी और उनके पीछे उल्काधारी अश्वारोही आश्रम के प्रांगण से दूर शोण की चाँदनी में चमकती चाँदी-सी रेती में होकर धीरे-धीरे जाने लगे। दूर से यह दृश्य बड़ा नयनाभिराम लगता था। चारों ओर सन्नाटा। रेत में घोड़ों की टापें धँस जाती थीं और उनसे कोई शब्द नहीं उठता था। धीरे-धीरे-धीरे अश्वों की एक लम्बी पाँति चली जा रही थी। यह लम्बी पाँति धीरे-धीरे-धीरे दृष्टि से ओझल हो गई।

तब सन्नाटे और एकान्त से जाग कर आश्रम-निवासियों ने जाना कि राजकुल का कोई असाधारण व्यक्ति उन्हें वीणा सुना गया। रत्नाम्बर को क्रोध आया कि उसने क्यों नहीं पहचाना, जब तीन वर्ष पहले राज्याभिषेक के समय वह सभा में उपस्थित था और आचार्य के साथ उसने सम्राट् के दर्शन किये थे। वही भव्य, ऐश्वर्य-मूर्ति सिंहासन से नीचे उतर कर उसके हृदय में कुछ गुदगुदी, कुछ ईर्ष्या, कुछ द्वेष पैदा कर गई, यह क्या क्रोध और आत्मप्रताड़न की बात नहीं है। दिवाकर को यह सब स्वप्न जैसा लगा। आचार्य को विस्तारपूर्वक सुनाने के लिए अच्छी कहानी मिली। मौन उसी ने तोड़ा।

"इन्दु बहिन! यह तो खूब रहा, हाँ, पाणिनी रह गया।"

"रह क्यों गया?" इन्दु बोली जैसे स्वप्न-सा देखा हो।

"कौन जानता था।"—दिवाकर।

रत्नाम्बर ने चिढ़ाया—'चल तू तो वेतस्-कुञ्ज में चल कर पाणिनी घोट, यहाँ घोखे नहीं बनेगा, बन्धु दिवाकर!'

इन्दु ने कहा—'तुम उसे व्यर्थ ही छेड़ते हो, रतन। यह भी अपना बन्धु है और इसे इतना मत छेड़ा करो। पिता आयेंगे तो मैं कहूँगी कि तुमने राजपुत्र का आदर नहीं किया।'

"हम आश्रम-निवासी ब्रह्मचारी पाटलिपुत्र को कर नहीं देते, इन्दु" कह कर, कुछ चिढ़ कर वह कुश पर जा लेटा।

दूसरे दिन जब महर्षि आये तो उन्होंने उन्हें पिछले दो दिनों की सारी कथा सुनाई। महर्षि हँस दिये। उन्होंने कहा—'ठीक है, इन्दु। अग्नि ऐसा ही है, अग्नि की तरह कोई नियम नहीं जानता, अनियम नहीं जानता। बड़ा उत्साही तरुण है। अब मैं कुछ दिन यहाँ ठहर कर पाटलिपुत्र की सुधि लूँगा। कदाचित् धर्म के किसी कार्य के लिये उसे मेरी मंत्रणा की आवश्यकता हो।'

रत्नाम्बर ने उन्मन भाव से कहा—'आश्रम के ब्रह्मचारियों और तत्ववेत्ताओं को राज-सिंहासन से क्या!'

महर्षि ने कहा—'शांत, तुम नहीं जानते। देश भर में विदेशियों के आक्रमण हो रहे हैं। कपिशा, गांधार और तक्षशिला यवनों से पद-दलित हैं। अनेक गणों, अनेक राष्ट्रों और अनेक जातियों में यह हमारा देश बँट गया है। रथ के अनेक अरणों की भाँति इसका भी कोई केन्द्र होना चाहिये और एक बार ब्राह्मण धर्म की आनन्द वाणी से संसार गुंजित हो उठे। नास्तिकों, अरहतों और बौद्धों के विरुद्ध एक सार्वभौमिक सर्वग्राही वैष्णव धर्म की रचना करनी होगी, राज्य को साम्राज्य बनाना होगा और वैष्णव धर्म उसी तरह राज-केन्द्र से हरिचालित होगा जिस तरह देव-प्रिय अशोक के समय बौद्ध धर्म हुआ था। तभी धर्म की भुजाएँ दृढ़ होंगी। उनकी रक्षा हो सकेगी। तुम नहीं जानते।'

कुछ रुक कर उन्होंने कहा—"जो राष्ट्र की नाड़ी पर हाथ धर कर देखते हैं, वे जानते हैं कि शीघ्र ही देश पर विपत्ति आने वाली है। इस विपत्ति में बौद्ध हमारा साथ नहीं देंगे। कुक्करव्रती, विडालव्रती और

अजगरव्रती हीन-यानियों से यह देश भर गया है। इनको समाप्त करना होगा। एक बार फिर चक्रवर्ती को उसके पद पर सम्मानित करना होगा और अश्वमेधों को नया प्राण देना होगा। नया ब्राह्मण धर्म जीवन के नये मार्ग खोलेगा। तप के मार्ग नहीं, आनन्द के मार्ग, उल्लास के मार्ग, जीवन के प्रति प्रेम के मार्ग देवता के प्रति भक्ति के मार्ग। तब ऐसे विश्वजनीन धर्म की स्थापना होगी जो युगों-युगों के पार सनातन, सचे-तन, सचेष्ट रहेगा। यही वैष्णव धर्म राज-धर्म होगा। अग्निमित्र इस वैष्णव धर्म की पताका फैलाने के लिये उपयुक्त पात्र है। क्यों इन्दु?"

इन्दु के कोमल, रेशम से लहरे खुले लम्बे बालों को दुलराते हुए उन्होंने कहा, "यह तरुण तुझे कैसा लगा, बेटी?"

"सौम्य!" लज्जा से लाल हो उठी इन्दु।

प्यार से उसकी ओर देखते हुए महर्षि बोले—"इस अग्निमित्र पर भी मैंने तेरा जैसा ही स्नेह न्यौछावर किया है, इन्दु। मैं अनेक वर्ष राजगृह में रह कर इसे शिक्षा-दीक्षा देता रहा हूँ। इससे मुझे बड़ी आशाएँ हैं। स्वर्ग में यज्ञ-देवता उसकी ओर देख रहे हैं।" भावुक श्रद्धा से उनकी आँखों में दो जल-बिन्दु झलक उठे।

३

अग्निमित्र साहसी युवक है। कुछ उच्छृङ्खल भी है। आँखों में तारुण्य की चिनगारियाँ जलती हैं और मन आग से खेलता है। पिता पुष्पमित्र का अंकुश जब तक रहता है तब तो अग्निमित्र अग्निमित्र है, जहाँ हटा, वहाँ निरंकुश, ठीक जैसे अमित्राक्षर के पद। युवराज बृहस्पतिमित्र के साथ वह उज्जयिनी आया हुआ है। साथ में सेना है। दोनों अमित्र-

हृदय मित्र हैं। सम्राट् शतधन्वा ने सोचा है इस अभिज्ञान में कुमार को कुछ अनुभव हो जायगा, दूरदर्शी दण्डनायक पुष्यमित्र ने अग्निमित्र को साथ कर दिया है। देश अग्निमित्र का जाना-पहचाना ही है, मालव जो ठहरा।

शिप्रा पर एक बड़ी हंस-पीठ नौका धीरे-धीरे वह रही है, जैसे नाविकों ने डाँड़ खेना छोड़ दिया हो और नाव धारा के वहाव पर ही वह रही हो। मद के पात्र आधार पर धरे हैं और पास ही वीणा है। नाव धीरे-धीरे वह रही है। सब मौन हैं, केवल कभी-कभी अग्नि वीणा का कोई तार अँगुलियों से छेड़ देता है और उसकी झंकार हेमन्त की सुनहरी साँझ में दूर तक फैल कर आकाश को भर देती है।

अग्निमित्र ने कहा—'यह शिप्रा हम मालवों की प्राण है, कुमार। मेरा तो जीवन ही इसके तट पर बीता है। उस पार मेरे दीक्षा-गुरू का आश्रम है; एक दिन वहाँ तो चलना।'

वृहस्पतिमित्र ने मुस्करा कर कहा—'इन मालविकाओं में बड़ा रस है, अग्नि!'

किंचित मुस्करा कर अग्नि ने कहा—'हमारे देश की कुमारियाँ मगध की कुमारियों की तरह प्राचीरों में बन्द नहीं रहतीं। वे पुरुषों की तरह अश्व-विद्या सीखती हैं और शस्त्र चलाती हैं, इसीसे तो उनका सौन्दर्य थोड़ी अवस्था में ही ढल नहीं जाता।'

वृहस्पतिमित्र तट की ओर देख रहा था, जहाँ कई मालविकाएँ स्नानोपरांत वस्त्र धारण कर रही थीं और नौका की ओर आश्चर्य से देख रही थीं।

उसने कहा—'बड़ी रमणीक तुम्हारी यह भूमि है, अग्नि! तात पुष्य-मित्र को धन्यवाद कि उन्होंने मुझे यहाँ भेज दिया। लाओ अग्नि, मैं वीणा बजाऊँ और तुम गाओ।

उसने वीणा उठा ली और मालकोस के चढ़ते स्वरों में गत छेड़ी।

अग्नि ने गाया—

'हम मालवों का देश इस पृथ्वी का स्वर्ग है। माँ शिप्रा का जल हमें स्वर्ग के अमृत के समान ही मीठा लगता है।

'माँ शिप्रा के तट पर उन मालवों की अस्थियों के स्तूप हैं जिन्होंने शत्रु के आगे खड्ग नहीं झुकाई।

'जब तक शिप्रा का जल मालव भूमि को सिक्त करता है, तब तक मालवों की खड्ग कुंठित नहीं हो सकती।'

लोक-गीत था। पीछे घने वनों की वीथिका में उल्लास और साहस से भरा यह गीत जल की लहरियों को अधिक चंचल बनाने लगा।

नौका धीरे-धीरे बह रही थी। आकाश में एक, दो, तीन, अब कई तारे निकल आये थे। नाव उज्जयिनी के पास ही एक तट पर लगी हुई थी। अग्नि वैसे ही एकान्तप्रिय है, वह मौन था। बृहस्पतिमित्र शायद मालवा की सुन्दर तरुणियों की बात सोच रहा था जो कई दिन से उसके दुर्बल मन को व्यस्त किये थीं। मगध के अंतःपुर की रातें उसे याद आ रही थीं और अपने स्पर्श-गंध सुख में भरे हुए मन को वह इस अँधेरे में डुबा कर कुछ शान्त करना चाहता था।

तभी कहीं से, आकाश को भेदती हुई चीत्कार आई। कोई हिंसक वन-पशु किसी सुन्दरी पर झपट रहा था। अग्निमित्र और बृहस्पतिमित्र दोनों चौकन्ने हो उठे। देखा, पास ही तट पर बैठी हुई सद्यःस्नाता एक युवती चीत्कार कर रही है—वह भयभीत है कि सिंह उसी की ओर आ रहा है।

अग्नि ने देखा, युवराज काँप रहा है। वह मुस्कराया। यही युवराज है जिसके सिर पर कल मगध का बोझ होगा। एक क्षण में उसका खड्ग सिंह के मस्तक पर था।

पशु-मनुष्य का यह तुमुल युद्ध देखने योग्य था। युवती अवाक् इसे देख रही थी, निस्पंद जैसे देव-प्रतिमा हो। एकबार ऐसा लगा कि अग्नि अब गया, अब गया। सिंह के कन्धे पर गहरी चोट पड़ी थी और वह पीछे हट कर घेर कर आक्रमण कर रहा था। वृहस्पति को यह साहस नहीं होता था कि अग्नि की सहायता की जाय। सहसा अग्निमित्र ने चीत्कार की—'जय महाकाल।' और क्षणभर में शिप्रा के निर्जन सांध्यतट की कालिमा दम तोड़ते हुए हिंसक पशु के भयङ्कर नाद से भर गई।

युवती अब स्वस्थ हो गई थी। अग्निमित्र उसी तरह खड्ग लिये था। उसके पास आकर बोली—'बन्धु, चोट तो नहीं लगी।'

उतर कर जैसे अग्नि बोला—'ऐसी कुछ नहीं। आपकी सहायता के लिये धन्यवाद।'

अग्नि बोला नहीं। 'इस निर्जन में इस बीहड़ तट पर संध्या के समय स्नान करना। सचमुच आपका साहस बड़ा है—अच्छा, आर्या, मैं क्या कह कर पुकारूँ।"

"मैं इरावती हूँ—महाकाल के मन्दिर की नर्तकी"—विनीत तरुणी ने कहा—"आपके साहस ने आज मेरे प्राण बचा लिये।"

अग्निमित्र चुप रहा। उसने कहा—'आपको पहुँचा देना होगा। चलिये, एक मित्र से आपका परिचय कराऊँ।'

तब तक वृहस्पति पास आ गया था। अग्नि ने कहा—'ये हैं इरावती' और (कुछ मुसकराया) युवराज वृहस्पतिमित्र।'

इरावती ने वीणा-विनिन्दित कंठभंगिमा से कहा—'कुमार, मैं आपके मित्र की चिर आभारी रहूँगी।'

'सचमुच अग्नि का पौरुष दुर्दमनीय है।' मन्द मुस्करा कर वृहस्पति-मित्र ने कहा—'क्या आप नौका पर न आयेंगी?'

'धन्यवाद' नर्तकी ने कहा—'परन्तु कुमार जानें मैं देव-प्रतिमा के

लिये अर्पित हूँ और इस प्रकार पर पुरुषों के साथ नौका-विहार देवता का अपमान होगा।'

वह तिलमिला कर रह गया। उसने अग्नि से कहा—'तो अग्नि, तुम इन्हें छोड़ जाओ। मैं महाकाल के सामने के घाट पर ही मिलूँगा।' और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वह नौका पर चला गया और तब तक अग्नि कुछ कहे कहे, डाँड़ चला दिये। नौका प्रवाह की दिशा में तेजी से बहने लगी।

अंधकार धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इरावती अग्निमित्र के पार्श्व से लगी हुई ही महाकाल के गोपुर की ओर बढ़ रही थी। एक अज्ञात, अद्भुत भाव उसके मन में सिहरन उत्पन्न कर रहा था। उसकी वेणी में मंदार-पुष्प गुथे थे और उसने उसे गुम्फ की भाँति गूँथ कर पीछे डाल दिया था जिसके भार से उसकी गति और भी गम्भीर हो गई थी। वह मौन थी। शायद कुछ सोच रही हो।

'इरा'—सहसा कोई बोला।

वह चौंक गई।

अग्निमित्र कह रहा था—'इरा, यह अपरिचित नाट्य कैसा! क्या तुम वही अपनी इरावती नहीं हो।'

'नहीं हूँ', वैसे ही इरावती ने निष्प्रयोजन जैसे उत्तर दिया। 'मैं अब तुम्हारी कोई नहीं हूँ। मैं देवता की प्रतिश्रुत हूँ।'

'हूँ'—अग्निमित्र ने हुंकार भरी।

कुछ मौन रह कर इरावती ने कहा—'तुमने मुझे भुला दिया था, अग्निमित्र! परन्तु मैं तुम्हें भूली नहीं। जीवन के कैशोर में तुम आये, पारिजात पुष्पों की गन्ध से मुझे उलझा कर छोड़ गये। यह सब क्या था? क्या मालव तरुण यही करते हैं?'

मौन रहा अग्निमित्र। उसने कहा—'देवि, मैं लज्जित हूँ। तब मैं अपने को नहीं समझा था।'

'अब मैं अपने को नहीं समझ रही हूँ'—उसने हास्य-नाट्य किया और न जाने कैसे अग्निमित्र का हाथ उसके हाथ में आ गया।

अग्निमित्र ने धीरे से उसे उठा कर मुँह से लगा कर चूम कर छोड़ दिया। इरावती ने मना नहीं किया।

इरावती बोली—'तुम चले गये तब मुझ निराश्रिता का आश्रय कौन था? तुम तो जानते ही हो, महाकाल के तरुण ब्रह्मचारी की मुझ पर आसक्ति थी। मैं महाकाल के मंदिर की नर्तकी बनी।'

प्रतिहिंसा की यह बात सुन कर अग्निमित्र कुछ विचलित हुआ। उसने धीरे से कहा—'जो तुम कहती हो वह क्या सब ठीक हो सकता है, इरा! तुम मेरे लिए कितनी कठोर हो सकती हो, जानता हूँ।'

'यह तुम्हारे मित्र तो यों ही रहे।' व्यंग से चमक कर बोली।

'वह मगध का युवराज है, इरा, परन्तु' (वह मुस्कराया) 'आर्यों की खड्ग अब कुंठित है। कुसुमपुर मदिरा और इन्द्रिय-सुख की नगरी है। राज्य धर्मामात्य के शासनों द्वारा शासित होता है। यह युवक मगध के शाम को सँभाल नहीं सकेगा, इरा।'

पास से कुछ अश्वारोही गुजर गये। महाकाल के गोपुर का प्रकाश दूर से चमक रहा था, धीरे-धीरे पास आने लगा।

इरावती ने कहा—'अग्नि, मुझे इसी तरह साधना करने दो। मुझसे मिलने की बात मत सोचना। इरा अब देवता की भोग्य है, मानव की नहीं, यह जानकर विरक्त होना।'

और वह तेजी से आगे बढ़ कर अंधकार में खो गई। अग्निमित्र कुछ देर तक वहीं खड़ा हुआ दूर गोपुरों और महाकाल के मन्दिर के दीप-स्तम्भों के प्रकाश को देखता रहा। फिर उसने एक गहरी श्वास छोड़ी और घाट की ओर चल पड़ा। वहाँ बृहस्पतिमित्र नाव लेकर उसकी प्रतीक्षा कर रहा होगा। तभी उसे युवराज की कुंठा का ध्यान हो आया। लक्षण ठीक नहीं हैं, उसने सोचा।

४

इरावती जब महाकाल की देहरी पर चढ़ी, संध्या-पूजन हो चुका था। मन्दिर में दो बार नृत्य के लिए उसकी खोज हो चुकी थी और उसे न पाकर तरुण ब्रह्मचारी का हृदय रोष से भर गया था। इरावती की इतनी स्वतंत्रता उसे खलती थी। कुछ देर तक उसने श्लोक-पाठ में अपने को उलझाये रखा, फिर वह चुप रहा।

जनता धीरे-धीरे कम हो गई थी। प्रागंण पार कर इरावती उस बड़े दीप-स्तंभ के सामने पहुँची जिसके आगे पुजारी कोई पुस्तक लिये बैठा था। दृष्टि उसकी पुस्तक से अधिक सिंह-द्वार पर थी।

वह कुछ बोली नहीं। फिर धीरे से कहा—'क्या पूजन हो चुका ? बड़ी देर हुई।'

पुजारी ने सिर उठा कर उसे आपाद मस्तक-देखा, 'देखता हूँ, अब तुम वह नहीं रहीं', उसने कहा, 'तुम्हें देवता के क्रोध का भी भय नहीं है।'

इरावती बोली—'इसीलिए तो' कि जानती हूँ 'देवता इरावती पर अकृपा नहीं करेंगे।'

'बहुत वाचाल हो।'

इरावती मुस्करा दी। उसने व्यङ्ग से कहा—'तुम अरसिकों से तो अनात्म के उपासक श्रमण अच्छे हैं।' और जब तक ब्रह्मचारी लम्बे केशों को गर्दन पर पीछे डाल बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर उठाता हुआ सोचे कि क्या कहा गया, वह दूर चली जा रही थी।

'ठहरो'—वह पीछे आया।

इरावती रुक गई। उसने कहा—'क्या सचमुच बहुत देर हो गई ?'

गम्भीर स्वर में ब्रह्मचारी बोला—'यहाँ कुमार बृहस्पतिमित्र आए हुए हैं। तुम जानती हो, बौद्ध श्रमणों को हमारे ब्राह्मण धर्म से घृणा है और वे इस महाकाल के चिर विद्रोही हैं। मुझे युवराज से भय हो रहा है। वह बौद्ध धर्मामात्य के इशारे पर चलता है।' उसने मुस्करा कर कहा—'मुझे तुम्हारे लिए भी भय है।'

इरा खिलखिला कर हँस पड़ी। 'मेरे लिए भय !' उसने दुहराया, 'आनन्द ! आज अकस्मात् ही तुम्हारे युवराज से शिप्रा पर भेंट हो गई।'

ब्रह्मचारी को जैसे तड़ित मार गई। वह अवाक् रह गया। इतना बड़ा कांड ! यह तो उसकी कल्पना के बाहर था। इरावती के आकर्षण को क्या कोई भी तरुण रोक सकेगा। उसे विश्वास हो गया, धर्म पर अवश्य विपत्ति आने वाली है।

उसने धीमे स्वर से कहा—'यह तुमने क्या किया, इरा ! वह युवा बड़ा ही उच्छृङ्खल है।'

'सब युवा उच्छृङ्खल होते हैं', वह मुस्कराई।

आनन्द बोला—'इन आर्यों ने अनात्मवाद को सिर पर चढ़ा लिया है। इनका सत्यानाश हो। महाकाल का वज्र इन पर गिरे। इरा, एक दिन इन काषायधारी पाखण्डों से मुंडित मस्तक महाकाल के चरणों में बलि होंगे, तभी धर्म की ध्वजा एकबार फिर हिमालय से अन्तरीप तक फहरायेगी। इन कायरों ने मालवों को भी निर्वीर्य बना दिया है।'

'छिः, छिः, कैसी बात कहते हो'—इरा ने चमक कर कहा।

'मैं झूठ नहीं कहता'—आनन्द बोला—'हम ब्राह्मण चाणक्य के तेज को भूले नहीं हैं। आर्यों के राज्य को चाणक्य की नीति ने ही संस्थापित किया था, ब्राह्मण-द्रोही बन कर मौर्य कितने दिन रह सकेंगे। साम्राज्य के नीचे-नीचे जो भूकम्प का भयंकर भैरवी चक्र चल रहा है, उसकी बात

४

इरावती जब महाकाल की देहरी पर चढ़ी, संध्या-पूजन हो चुका था। मन्दिर में दो बार नृत्य के लिए उसकी खोज हो चुकी थी और उसे न पाकर तरुण ब्रह्मचारी का हृदय रोष से भर गया था। इरावती की इतनी स्वतंत्रता उसे खलती थी। कुछ देर तक उसने श्लोक-पाठ में अपने को उलझाये रखा, फिर वह चुप रहा।

जनता धीरे-धीरे कम हो गई थी। प्रागंण पार कर इरावती उस बड़े दीप-स्तंभ के सामने पहुँची जिसके आगे पुजारी कोई पुस्तक लिये बैठा था। दृष्टि उसकी पुस्तक से अधिक सिंह-द्वार पर थी।

वह कुछ बोली नहीं। फिर धीरे से कहा—'क्या पूजन हो चुका ? बड़ी देर हुई।'

पुजारी ने सिर उठा कर उसे आपाद मस्तक-देखा, 'देखता हूँ, अब तुम वह नहीं रहीं', उसने कहा, 'तुम्हें देवता के क्रोध का भी भय नहीं है।'

इरावती बोली—'इसीलिए तो' कि जानती हूँ 'देवता इरावती पर अकृपा नहीं करेंगे।'

'बहुत वाचाल हो।'

इरावती मुस्करा दी। उसने व्यङ्ग से कहा—'तुम अरसिकों से तो अनात्म के उपासक श्रमण अच्छे हैं।' और जब तक ब्रह्मचारी लम्बे केशों को गर्दन पर पीछे डाल बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर उठाता हुआ सोचे कि क्या कहा गया, वह दूर चली जा रही थी।

'ठहरो'—वह पीछे आया।

इरावती रुक गई। उसने कहा—'क्या सचमुच बहुत देर हो गई ?'

गम्भीर स्वर में ब्रह्मचारी बोला—'यहाँ कुमार बृहस्पतिमित्र आए हुए हैं। तुम जानती हो, बौद्ध श्रमणों को हमारे ब्राह्मण धर्म से घृणा है और वे इस महाकाल के चिर विद्रोही हैं। मुझे युवराज से भय हो रहा है। वह बौद्ध धर्मामात्य के इशारे पर चलता है।' उसने मुस्करा कर कहा—'मुझे तुम्हारे लिए भी भय है।'

इरा खिलखिला कर हँस पड़ी। 'मेरे लिए भय !' उसने दुहराया, 'आनन्द ! आज अकस्मात् ही तुम्हारे युवराज से शिप्रा पर भेंट हो गई।'

ब्रह्मचारी को जैसे तड़ित मार गई। वह अवाक् रह गया। इतना बड़ा कांड ! यह तो उसकी कल्पना के बाहर था। इरावती के आकर्षण को क्या कोई भी तरुण रोक सकेगा। उसे विश्वास हो गया, धर्म पर अवश्य विपत्ति आने वाली है।

उसने धीमे स्वर से कहा—'यह तुमने क्या किया, इरा ! वह युवा बड़ा ही उच्छृङ्खल है।'

'सब युवा उच्छृङ्खल होते हैं', वह मुस्कराई।

आनन्द बोला—'इन आर्यों ने अनात्मवाद को सिर पर चढ़ा लिया है। इनका सत्यानाश हो। महाकाल का वज्र इन पर गिरे। इरा, एक दिन इन काषायधारी पाखण्डों से मुंडित मस्तक महाकाल के चरणों में बलि होंगे, तभी धर्म की ध्वजा एकबार फिर हिमालय से अन्तरीप तक फहरायेगी। इन कायरों ने मालवों को भी निर्वीर्य बना दिया है।'

'छिः, छिः, कैसी बात कहते हो'—इरा ने चमक कर कहा।

'मैं झूठ नहीं कहता'—आनन्द बोला—'हम ब्राह्मण चाणक्य के तेज को भूले नहीं हैं। आर्यों के राज्य को चाणक्य की नीति ने ही संस्थापित किया था, ब्राह्मण-द्रोही बन कर मौर्य कितने दिन रह सकेंगे। साम्राज्य के नीचे-नीचे जो भूकम्प का भयंकर भैरवी चक्र चल रहा है, उसकी बात

तुम नहीं जानतीं। शिप्रा के उस पार मेरे गुरु ने इसी नए ब्राह्मण मार्ग के संदेश को अपना जीवन-मन्त्र बना लिया है। मेरे जैसे कितने साधक धीरे-धीरे नष्ट-प्राय मन्दिर-भवनों में प्रवेश कर रहे हैं। काषाय वस्त्रों से अब जनता को धोका नहीं दिया जा सकता। वाक्त्रियों और यवनों के दल के दल चले आ रहे हैं। आज मालव की चट्टान अडिग है, परन्तु कल की कौन कह सकता है। इन कायर अनार्यों के हाथ से आर्यों के इस पवित्र देश की रक्षा करनी होगी।'

इरावती ने मुस्करा कर व्यंग से कहा—'परन्तु ब्राह्मणों में संयम का बल हो, तब तो।'

'ब्राह्मणों का तेज मर नहीं गया है। इरा, देखना मालवों का खड्ग विजयी होगा। मालवों के धर्म की जय होगी। आज सारा उत्तरापथ पाखंड के चक्कर में फँस गया है, केवल मालव शिव महाकाल की ध्वजा उठाये हैं। क्या इसमें देव का कोई इंगित नहीं छिपा है ?'

इरावती अपने प्रकोष्ठ तक पहुँच गई थी। उसने द्वार खोला। भीतर प्रसाधन की कुछ वस्तुओं को छोड़ कर और कुछ नहीं था। एक ओर संगमरमर की चौकी पड़ी थी, वहीं कदाचित् उसकी शय्या है। उसने गले की माला उतार कर एक आधार पर लटका दी। आज के अपने असाधारण अनुभव से वह थक गई थी। संगमरमर की चौकी के एक किनारे वह बैठ गई, परन्तु उसे पता है कि ब्रह्मचारी अब भी द्वार पर खड़ा उसकी ओर किसी और दृष्टि से देख रहा था।

उसने कहा—'महाकाल के मन्दिर के पुजारी को जैसा होना चाहिए, पहले वैसे बनो, तब बौद्धों के मूलोच्छेदन का विचार करना।'

'तब तुमने मुझसे प्रेम करने की बात कदाचित् झूठ ही कही।' उसके स्वर में कम्पन था। वह अपने भाव पी रहा हो जैसे। 'नर्तकी का प्रेम

क्या देवता को कलुषित नहीं करेगा ? देवता की प्रसादी के रूप में ग्रहण होगा।'

'दुत्', इरा ने कहा। उसने उठ कर खिड़की में से झाँकते हुए कहा—'एकबार तुम्हारे आत्मवाद के चक्कर से निकलती तो देखती कि अनात्मवादी पर भी रूप का जादू चलता है या नहीं।'

ब्रह्मचारी उसकी ओर बढ़ रहा था।

उसने कहा—'छिः, तुम प्रतिश्रुत हो। क्या तुम देवता के अनाघ्रत पुष्प को कामना की साँस से कलुषित करना चाहते हो ! कहाँ गई तुम्हारी बौद्धों पर विजय की शेखियाँ ! क्या तुम इरावती के शरीर का स्पर्श भी कर सकोगे ?'

वह तन कर खड़ी हो गई। एक क्षण पुजारी उसे समझ नहीं सका। वह जैसे लजा गया।

'इरावती तुम बड़ी कठोर हो'—उसने कहा—'तुम जानती हो, मैं बौद्धों के पराभव और तुम्हारे लिए ही जी रहा हूँ।'

इरावती ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह कठोर होकर उसकी ओर देख रही थी। यह प्रसंग उसे स्पष्टतः अप्रिय था। बाहर प्रांगण में कुछ दर्शक भक्त आ पहुँचे थे और 'जय महाकाल' के स्वरों से वातावरण गंभीर हो रहा था।

पुजारी धीरे-धीरे लौट गया। इरावती की दृढ़ता ने उसे एक बार फिर हरा दिया था। उसने सोचा—यह इरावती तो कहीं नहीं जाती। पहले यह बौद्ध अभियान तो समाप्त हो ले।

उस दिन इरावती को नींद नहीं आई। किन वात्याचक्रों का उसे सामना करना पड़ेगा यही सोचती रही। अग्निमित्र, आनन्द, बृहस्पति—न जाने कौन-कौन उसके जीवन में आए। क्या उसके लिए आत्म-समर्पण के सिवा और कोई मार्ग नहीं है ? क्या वह कला की श्रेष्ठतम

पूजा के रूप में अपने रूप-यौवन को देवता के प्रति समर्पित नहीं कर सकती ? क्या उसका अपना कुछ भी नहीं है ?

प्रभात-कालीन मन्द मलय के झकोरों ने उसके अलसित पलकों को मूँद दिया और जब वह जागी, दिन पहर भर चढ़ आया था। जागते ही उसे अग्निमित्र का ध्यान हुआ।

५

अवन्ति से सेना प्रस्थान कर चुकी थी। सेना-नायक बलभद्र उसके साथ थे। शिविर में कुछ भृत्यों के साथ कुमार बृहस्पतिमित्र और अग्निमित्र रह गये थे। दोनों इसलिए रुके थे कि महाकाल का प्रदोष उत्सव देखते चलें। अवन्तिका का महाकाल का प्रदोषोत्सव सारे देश में प्रसिद्ध था। धर्मामात्य की पहुँच अभी उसकी देहरी तक नहीं हो पाई थी। अग्निमित्र जानता था कि आज संध्या-पूजन के बाद इरावती का नृत्य होगा। वह उस दिन की प्रतीक्षा ही कर रहा था। वह जानता था कुमार कुछ कुंठित है, परन्तु इरावती को लेकर कोई बात नहीं चली, चल रही है, यह भी व्यंग छिपा नहीं था।

भोजन के उपरांत कुमार सोने की व्यवस्था में थे कि अग्निमित्र पहुँचा। उसने कहा—'इरावती ने तुम्हें निमंत्रण दिया है।'

कुमार को विश्वास नहीं हुआ।

'क्या मुझे'।

'हाँ, आज प्रदोषोत्सव जो है—उसने मुझे भी निमंत्रण दिया है'—अग्निमित्र कुछ अन्यमनस्क-सा था।

'तुम तो उसके मित्र ही हो'—कुछ व्यंग से बृहस्पतिमित्र ने

कहा—'तुमने बताया था। वह तुम्हारी परिचिता निकली। मालव तरुण-तरुणियाँ हम लोगों से कहीं अधिक स्वतंत्र जान पड़ते हैं।'

'हाँ, मालव स्त्रियों को बन्दी बनाने में विश्वास नहीं करते।'

कुछ व्यंग से कुमार ने कहा—'परन्तु यहाँ तो ये तितलियाँ जान पड़ती हैं, एकदम मधुग्राही।'

अग्निमित्र समझ गया, इस व्यंग के नीचे एक डंक छिपा है। हाँ, ठीक ही तो है, परन्तु आप मालवों को इतनी शीघ्र कैसे समझ सकते हैं।

आज प्रातःकाल से ही प्रदोष-उत्सव की तैयारियाँ हो रही थीं। महाकाल के गोपुर-शिखर स्वर्ण कलशों से दमक उठे थे और नए-नए कंदुकों की वन्दनवारें द्वारों पर झूलती थीं। अग्निमित्र को यह उत्सव विशेष प्रिय था। इरावती वहाँ है इस बात ने उस उत्सव में नया रस घोल दिया। वह आज किसी भी विषय पर तर्क करने को तैयार नहीं था। उसका मन एक मादक उल्लास से भरा हुआ था और उसने स्वयं को कभी इतना हल्का नहीं जाना था। अग्निमित्र यह सब देख आया था। इरावती के हृदय में उसके लिए कितना प्रेम है, वह खूब जानता था। आज साँझ को नृत्य करना इरावती के लिए एक कठिन समस्या होगी, वह जानता था, परन्तु इस जानने से क्या! वह बड़ी विकलता से दिन मुँदने की बाट देख रहा था।

उसने कहा—'आज का निमंत्रण अस्वीकार कर हम इरावती को अप्रसन्न न करें।'

मुस्करा कर कुमार ने कहा—'हम'।

'तुम जैसा चाहो'—अन्यमनस्क होकर अग्निमित्र चला गया।

परन्तु संध्या समय प्रांगण में घुसते ही उसे मालूम हो गया कि वृहस्पतिमित्र पहले ही जा चुका है। वह एक स्तम्भ की चित्रकारी को बड़े ध्यान से देख रहा था। यद्यपि वह प्रच्छन्नवेष में था, अग्निमित्र

पहचान गया। उसके पास आकर उसने उसको मुस्करा कर अभिवादन किया।

कुमार ने कहा—'देखो, चुप रहना, मैं जरा गुप्त रहना चाहता हूँ जिससे तुम्हारी संगिनी स्वच्छन्द रह सके।'

'धन्यवाद'—

तभी इरावती एक प्रकोष्ठ से निकलती हुई दिखाई दी। उसने नृत्य की सारी सज्जा पहन रखी थी, और वह उनसे सज कर ऐसी लग रही थी जैसे स्वर्ण पत्रों के बीच में झिलमिलाती दीपशिखा। अग्निमित्र को देख कर वह कनखियों में मुस्कुराई।

'अग्निमित्र'

वह पास चली आई। क्षण भर कुमार की ओर देख कर उसने मुस्करा कर नमस्कार किया—'मैं आपको पहचान गई', उसने कहा, 'इसकी क्या आवश्यकता थी।'

बृहस्पतिमित्र ने उसके मुख पर खिले व्यंग को पढ़ा नहीं। उसने कहा—'आज सारी मालव-जनता उमड़ आयेगी। मैं उसकी आँखों से गुप्त रहना चाहता हूँ।'

'हाँ, कदाचित् बौद्ध युवराज मालवों के हिन्दू मन्दिर में गए, यह प्रवाद फैल जाय, और धर्मामात्य और कुक्कुटाराम के आचार्य के प्रति आप उत्तरदायी हों'—उसने कोमल अट्टहास किया।

'धर्म-मन्दिरों में देवदासी और नृत्य-संगीत मुझे पसन्द नहीं' बृहस्पतिमित्र ने कहा—परन्तु उसने अग्नि की ओर आँखें कुंचित कीं—'जब वह इरावती न हो।'

'धन्यवाद! कदाचित् मेरे शाम के नृत्य के सम्बंध में तो कुछ रहस्य नहीं। मैं स्वयं दर्शक बनूँगा।'

'और तुम, अग्निमित्र, तुम तो बौद्ध नहीं हो?'

अग्निमित्र केवल मुस्कराया।

इरावती ने चलते हुए कहा—'युवराज, इरावती के लिए बौद्ध, अबौद्ध, अरहत, यवन में कोई भेद नहीं है। वह तो कला की उपासिका है। उसके लिए आत्म-अनात्म क्या? जीवन में आनंद की अभिव्यक्ति ही तो कला है। अमंगल में मंगल की प्रतिष्ठा ही तो नृत्य, गीत, काव्य है। कुमार, हम दक्षिण के मालव आनंद के रूप में ही महाकाल, महामृत्यु की उपासना करते हैं। इसी से थेर-थेरियों का दुःखवाद और जैन-श्रमणों का नास्तिकवाद हम मालवों की समझ के परे हैं।'

बृहस्पतिमित्र को यह विषय रुच नहीं रहा था। उसने कहा—'यह तुम्हारा दृष्टिकोण है। सम्भव है, प्रत्येक मालव का हो। मुझे आश्चर्य है महाप्राण सम्राट् अशोक का धर्म-चक्र जब घूम रहा था, तब ये मालव, वृष्णि, शिवि कहाँ चले गए थे। फिर भी तुम्हारे वासुदेव और महाकाल से मुझे कोई द्वेष नहीं। मौर्य सम्राट् की नीति धार्मिक सहिष्णुता है।'

'आर्य, यह वैदिक मार्ग है'—ब्रह्मचारी आनंद मंडली में आ गया था—'तुम कोई भी हो, मुझसे सुनो। विषाद और आत्म-प्रताड़न को लेकर कोई धर्म नहीं चल सकता। आत्मा के आनन्द को स्फूर्जित कर सके, वही धर्म है। आनन्द, आनन्द, आनन्द। इसी आनन्द की उपलब्धि के लिए मूर्ति के सामने नृत्य, गीत और काव्य का आयोजन कर हम मालव-वृष्णि प्रणत होते हैं। यह पूजा-उत्सव भीतर के आनन्द को जगाना ही तो है।'

'परन्तु तुम्हें इस सब आयोजन के लिए धर्मामात्य का आज्ञापत्र लेना चाहिए था।'

क्रोध से भर कर ब्रह्मचारी बोला—'किस धर्मामात्य की बात करते हो? तब तुम बौद्ध हो। तुम यहाँ क्यों आए हो, यह भैरवी चक्र के उपासकों के लिए ठीक स्थान नहीं है। धर्म का दंड राजा के

हाथ में शोभा नहीं देता, यह तो सन्यासी की वस्तु है। तुम पाखंडियों ने धर्म की ओट में अधर्म को आश्रय दिया है।'

'अधर्म क्या है, धर्म क्या है'—बृहस्पतिमित्र ने धीरे से कहा—'यह तुम जानो या धर्मामात्य! परन्तु यवन मज्झामिका तक चले आए हैं। अवन्ती पर यवनों के आक्रमण का भय है। इस 'प्रदोष' के उत्सव-नृत्य-गान में भूली हुई नगरी कब तक स्वतंत्र रह सकेगी?'

ब्रह्मचारी का तेज जाग्रत हो गया। उसने वीरभद्र से कहा—'तो महाकाल के उपासक खड्ग चलाना भी जानते हैं!' उसने कमर के भीतरी बंध से खड्ग निकाल लिया था। 'देश पहले है, धर्म बाद में; परन्तु महाकाल के मंदिर का पुजारी धर्मामात्य से आज्ञा नहीं लेगा। शिव महाकाल हैं। उनका उपासक मृत्यु से भय नहीं खाता। आर्य बौद्धों और जैनों की भाँति नपुंसक नहीं हैं। वे प्राणों की बलि देना जानते हैं। अवन्ति पर शिव महाकाल की छाया है। उसे पराजय का भय नहीं है।'

इरावती ने इस वाद-विवाद में भाग नहीं लिया। वह नाट्य-गृह में जा चुकी थी।

दीपस्तंभ हीरक-प्रकाश में जल रहे थे। देवता के मन्दिर के पट बन्द थे। प्रांगण में असंख्य जनता की भीड़ थी। 'शिव महाकाल की जय' के शब्दों से सारा मन्दिर-भवन गूँज रहा था। बंद मन्दिर के स्वर्णपटों के सामने एक पंचमुखी की शांत ज्योति जल रही थी और आधार के सामने आनन्द पुजारी-भेष में खड़ा था। सब की आँखें उसकी ओर थीं।

सहसा घुँघरू बज उठे। इरावती नाचने को खड़ी हुई। उसने एक बार मुस्करा कर अग्निमित्र और उसके साथी को देखा, एक बार पुजारी की ओर फिर उसने सम की झंकार के साथ नृत्य शुरू किया। साथ ही मृदंग और मंजीर बज उठे और गोपुरों पर महामृदंगों

और तूर्यों ने नृत्य की गत देनी शुरू की। सम पर सम, ताल पर ताल, मूर्च्छना पर मूर्च्छना। जनता स्तब्ध थी, केवल कभी-कभी सामन्तों का साधुवाद नीरवता भंग करता था।

गोपुरों पर हलचल हुई, कुछ उल्काधारी बड़ी तीव्र-गति से मन्दिर की ओर आ रहे थे। नृत्य बंद हो गया। सब लोग उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे।

उल्काधारी स्तब्ध प्रांगण में चले आये। उन्होंने अग्निमित्र को एक पत्र दिया। कदाचित् राजकुमार को छद्मवेष के कारण पहचान न सके। अग्निमित्र ने पत्र पढ़ कर कुमार को दे दिया। सब लोग उनकी ओर देखने लगे। पुजारी ने अब कुमार को पहचान लिया और उत्कंठा, रोष और तेज से उसकी आँखें जल उठीं।

कुमार ने तीव्र स्वर से कहा—'आप लोग महाकाल का प्रदोष-उत्सव मना रहे हैं और उधर यवन-वाहिनी मज्झमिका से चल पड़ी है। कर्कोटक की मालव सेना इतनी अधिक नहीं है कि इस विशाल-वाहिनी का अवरोध कर सके। चम्बल के इस पार हमारी सेना उन्हें रोकेगी। परन्तु मैं पूछता हूँ, आज मालवों का यही कर्तव्य है कि नृत्य-गीत में लगे रहें?'

अग्निमित्र ने कहा—'कुमार, यह मन्दिर है। यहाँ राजनीति की चर्चा व्यर्थ है।'

'क्या मन्दिर भी राज के अधीन नहीं है?' कुमार का स्वर गूँज उठा।

पुजारी कह उठा—'मन्दिर अपने अधीन है। मौर्य राजकुमार उनके सम्बन्ध में व्यवस्था नहीं दे सकते। परन्तु मालव और शिवि, यवनों ने तुम्हारी भूमि पर आक्रमण किया है। इस समय महाकाल का यही आदेश है कि तुम प्राणों का मोह छोड़ कर इन विदेशियों को भारतभूमि से निकाल दो। साम्राज्य की जड़ में घुन लग गया है।

परन्तु मालव का खड्ग अब भी शक्तिशाली है, यवनों को यह बताना होगा। देखना, कर्कोटक का युद्ध यवनों को याद रहे। आज सारा उत्तरापथ यवनाक्रान्त है। जलौक, वीर-सेन और सुभाग सेन विश्वासघाती सिद्ध हुए हैं। शाकल पर यवन-ध्वजा फहरा रही है। मथुरा के लता-कुंज यवनों की क्रीड़ाभूमि हैं। अब अवन्ति और कुसुमपुर पर उनकी आँख है। मालव-सन्तान अपने कर्तव्य को समझे। महाकाल उनकी रक्षा करें। शिव महाकाल की जय!'

शिव महाकाल की जय के तुमुलनाद से मन्दिर-प्रांगण गूँज उठा। लोग वीरभाव से भरे हुए कोलाहल करते हुए मन्दिर छोड़कर बाहर जाने लगे। उल्कामुखियों के साथ अग्निमित्र और वृहस्पतिमित्र भी बाहर जा चुके थे।

जब सारा प्रांगण खाली हो गया तो पुजारी ने इरावती की खोज की। वह वहाँ नहीं थी।

६

मथुरा पर दिमित्र का राज्य था। मज्झमिका वाला अभियान मथुरा से ही आरम्भ हुआ था। पश्चिम के मध्यप्रदेश में उन दिनों मथुरा का स्थान महत्वपूर्ण था। उत्तरापथ का उसे द्वार ही समझिये। २०० ई० पूर्व में सुराष्ट्र में वृष्णिगण का शासन था। यही वृष्णि-गण मौर्य राज्य की समाप्ति के साथ-साथ पश्चिमी प्रदेश की संस्कृति एवं राजनीति में प्रभावशाली होते गये और मथुरा वृष्णियों, यादवों और आभीरों का महान् क्षेत्र हो गया। इन कई गण-जातियों पर बौद्ध-धर्म का प्रभाव नहीं था। वह उसके प्रभाव-क्षेत्र के सीमांत से

आई थीं। अतः ब्राह्मणों ने इन्हें एक नये सूत्र में बाँध कर नये धर्म की योजना की। यह भागवत धर्म था। इसमें वासुदेव और संकर्षण की पूजा होती थी। मथुरा आते-आते महाभारत के वासुदेव कृष्ण और गीता के वासुदेव और संकर्षण में एकता स्थापित हो गई। मथुरा में एक नये धर्मसूत्र का संचालन हुआ।

दिमित्र के आक्रमण के समय यह धर्म जनता में प्रभाव प्राप्त कर चुका था। बड़े-बड़े मन्दिर-भवन बन चुके थे। पहले लगभग सारा प्रदेश शैव था, अब वासुदेव के विग्रह स्थापित हो गये थे और भक्तिभाव के साथ नियमपूर्वक पूजा, उपासना और बड़े-बड़े उत्सव इस धर्म की प्रधान बातें थीं। व्यास के कथा-नायक कृष्ण को घेर कर गोपकथा की सृष्टि हो रही थी और मथुरा के आस-पास कुंज-विहारों का निर्माण हो रहा था। नृत्य, रास और संगीत की एक नदी वृष्णि देश से उमड़ कर उत्तर भारत को प्लावित करने लगी थी।

कृष्णदेव मथुरा का क्षत्रप था। मौर्यों के समय में वह प्रान्तीय नायक था। दिमित्र की सेना ने मथुरा जीतने के बाद यवन क्षत्रप एन्टिगोनस को नगर का अधिकारी बना दिया। कृष्णदेव सामान्य नागरिक रह गये। आभीरों में उनका प्रभाव अद्वितीय था, इसलिए नगर-विजेताओं ने उन्हें यों ही छोड़ दिया था।

क्षत्रप कृष्णदेव जब मथुरा के महामन्दिरों को विदेशी यवनों के विलास की क्रीड़ा-भूमि बनाते देखते, तो उनकी आँखों में जल आ जाता। कृष्ण की लीला-भूमि, वृष्णियों का महिमा-स्थान मथुरा भूमि की यह दुर्दशा! कदम्ब रोते थे। जमुना रोती थी। गौ-गोपाल कष्ट में थे। मन्दिरों की ध्वजाएँ झुकी हुई थीं। यमुना तट के वेतस-कुंज मद-शेष पात्र की तरह धूलि-धूसरित हो रहे थे। हाय, रे

परिवर्तन ! कहाँ गया गरुध्वज । कहाँ गया वृष्णियों और आभीरों कर शौर्य !

भवन में स्थापित वासुदेव-विग्रह की पूजा-आरती समाप्त हो चुकी थी । नृप कृष्णदेव कई दिनों से अस्वस्थ थे । पूजा में सम्मिलित नहीं होते थे, परन्तु आरती उनके पास आ जाती थी । अभी आरती लेकर स्वस्थ हो बैठे थे । वृष्णि-श्रेष्ठि नागराज आ गये । नागराज ने कहा—'सुना आपने, यवन किस निर्दयता से कर ले रहे हैं ?'

'हाँ, परन्तु क्या किया जाय ?'

'क्या कोई प्रतिरोध नहीं है ?'

'कोई भी नहीं ।'

कुछ चिंतित भाव से कृष्णदेव ने कहा—'मथुरा के बुरे दिन आ गये । यह माना, वृष्णियों का गणतन्त्र नहीं रहा, मौर्यों के एकछत्र सम्राटों के आगे हमारे गण ने हथियार डाल दिये, परन्तु फिर भी गण-शक्ति का नाश नहीं हुआ था । शोक है, यवनों ने मध्यभारत के द्वार को देख लिया । सिकन्दर और सिल्यूकस जो नहीं कर सके, वह दिमित्र ने कर दिखाया । कोई चाणक्य ही निकल आये, तो सम्भव है, देश फिर स्वतन्त्र हो । नहीं तो, मगध के दिन इने-गिने रह गये हैं ।'

'सुना है, गानर्द (विदिशा) के ब्राह्मण आचार्य पतंजलि देश को एकसूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहे हैं । मालव उनके साथ हैं । मगध सम्राट् के सेनापति पुष्यमित्र से उनकी बाल-मैत्री है । सेनापति-पुत्र अग्निमित्र उनका शिष्य है । सम्भव है, बौद्धों के प्रति कोई क्रान्ति उठ खड़ी हो और देश इस नई शक्ति के हाथ में आ जाये ।'

कुछ मुस्करा कर, स्वर्ण-पीठ का सहारा लेकर उठे हुए कृष्णदेव बोले—'उनका मुख तेज से उद्दीप्त हो उठा—यही एक प्रकाश की

किरण है, नागराज ! क्रान्ति के चिह्न तो दीख रहे हैं, परन्तु नये प्रभात का जन्म उतना ही पीड़ा-जनक है जितना नवजात शिशु का। बौद्धों का धर्म ५०० वर्ष चल लिया। अब चलता नहीं दीखता। अहिंसा राजधर्म है। सैनिकों को प्रश्रय नहीं मिल रहा। मगध की सैनिक शक्ति क्षीण है। राजधर्म बौद्ध है। सैनिकों में से बौद्ध कितने हैं···।'

नागराज हँस पड़ा। उसने अट्टहास के साथ कहा—'बौद्ध और सैनिक! अहिंसक और रक्तपात!'

'यहीं तो आर्यों की नींव खोखली होती जा रही है। सेना में पर्वतीय जातियाँ हैं, शैव हैं, ब्राह्मण हैं, क्षत्रिय हैं, बौद्ध इनमें नहीं हैं। परन्तु जो सेना देश का बल है, उसकी आज दुर्दशा है। चन्द्रगुप्त की विशाल-वाहिनी कहानी रह गई है। शतधन्वा कुसुमपुर को रहस्य-नगरी बना कर मदिरा और विलास से जर्जर हो रहे हैं। राज-कुमार बृहस्पतिमित्र अदूरदर्शी साहसिक मात्र है। साम्राज्य की नाव डगमग हो रही है। दिमित्र का नया अभियान उसे मँझधार में डुबो देगा।'

'तब?'

जायँगी। सारा मधुवन विद्रोह कर रहा है और यवन-सैनिक उसका घेरा डाले हैं।

'बड़ी कठिनाई है', कृष्णदेव ने कहा—'नागराज, हम लाचार हैं। यवन मधुवन को जला देंगे। मधुवनी तो अपने ही हैं। चलो, चलें। एक बार कोई तरकीब निकालें।'

'परन्तु कहीं यवन आपको भी विद्रोही न गिन लें।'

'गिन लें। कृष्णदेव वासुदेव का प्रिय है। वृष्णीय मृत्यु से नहीं डरते। फिर कर्तव्य कर्तव्य है।'

'परन्तु आज तो यहाँ डोल-उत्सव है?'

'उसे भी देखते चलेंगे। यवन उसमें बाधा नहीं पहुँचायेंगे। वे लोग प्रसन्न ही होंगे। जानते हो, वासुदेव-धर्म के उत्सवों की भयानक शक्ति है। यवनों पर उनका प्रभाव पड़ेगा और वह दिन दूर नहीं है जब यवन वासुदेव के कीर्ति-स्तम्भ स्थापित करेंगे।' वृष्णिदेव के हृदय में महान पीड़ा थी। मथुरा का कण-कण उन्हें कृष्ण की बाल-केलि की याद दिलाता। आज यवनों के जहाँ आपान हैं, वहाँ कल मूर्तियों के प्रसाधन-गृह थे। कब होगा वह दिन जब ये यवन इस पवित्र भूमि से चले जाएँगे। कब निकुंज-वन चन्द्रप्रभा में नहा उठेगा और रास-मंडप में खड़े हो गोपी-गोप मधुरवंशी के साथ कृष्ण की रासलीला का अभिनय करेंगे। कब अहीर युवतियाँ और कन्याएँ स्वच्छन्द घूम सकेंगी। कब मधुर-कण्ठी अप्सराएँ वीणा की मूर्च्छना पर 'गाथाएँ' गाएँगी? उन्हें याद हुआ, अभी कल तक 'हाल' की गाथाएँ आभीर-कन्याएँ राज-मार्गों पर गाती चली जाती थीं। आभीर युवतियों का ग्रामीण सौन्दर्य उनका हास-विलास, उनके हँसी-चोचले, हाल की गाथाओं का संसार ही नया था। उसने प्रत्येक आभीर युवा को 'कृष्ण' और प्रत्येक आभीर युवती को 'राधा' बना दिया था। जन-पथ राधा-माधव-केलि-गीतों से मुखरित थे। पता नहीं कवि कहाँ

गया ? हो सकता है, अन्य कितने ही कवियों की भाँति वह भी यवन-युद्ध में मारा गया हो। परन्तु उसके गीत आज भी जीते हैं। एक दिन उसने सोचा था, यह वासुदेव-धर्म सार्वभौमिक धर्म हो जायगा। शिव महाकाल के उपासक मालव भी वृष्णियों के इस वासुदेव धर्म से प्रभावित हो रहे हैं। परन्तु परतंत्र वृष्णि जाति अपने देवता को सारे भारत के सिर पर कैसे लाद सकेगी ! डोल-उत्सव में खड़े वृष्णिदेव यही सोच रहे थे।

जनता की अपार भीड़ उमड़ी चली आ रही थी। वृष्णिदेव को सब पहचानते हैं। अभिवादन के बाद लोग उनका मार्ग छोड़ देते।

आज मथुरा पर यवनों का राज्य है, परन्तु सच्चा सम्राट् तो वृष्णिदेव ही है। सोचकर वृष्णिदेव के होठों पर हँसी आ गई। सहसा तूर्यों का शब्द हुआ और एक यवन-वाहिनी आ पहुँची। सिर पर लोहे का शिरस्त्राण, जो चैत की चढ़ती धूप में झलमला रहा था, मुख पर दर्प और नेत्रों में अभिमान। जनता कोलाहल और खेल-कूद में लगी रही। मंदिर के प्रांगण से एक आकाश-चुम्बी स्वर्णरथ निकल रहा था। उसके कलश साँझ के सूर्य के प्रकाश को अधिक तीव्र बना रहे थे। उस पर वासुदेव का हीरे का भावमय विग्रह था। सहस्रों आभीर युवक उस रथ को खेंच रहे थे। देव-देव-वासुदेव की जय से आकाश गूँज उठा। एक बार फिर देवों के देव वासुदेव का गरुड़ध्वज गर्व से आकाश में फहराने लगा। यवन चमत्कृत हो यह अलौकिक दृश्य देख रहे थे। जनता के उत्साह ने जैसे उन्हें पराजित कर दिया है।

'मित्र, यह कौन देवता हैं ?' एक ने दूसरे से यावनी भाषा में पूछा।

'हरिकुलस'।

'हमारा यूनानियों का देवता हरिकुलीस ?'

'हाँ, यह भी इसे हरि-कुल कहते हैं। वासुदेव भी कहते हैं। परन्तु हमारे यहाँ न ऐसे सुन्दर मन्दिर हैं, न ऐसी मूर्तियाँ।'

यवनों में कानाफूसी हुई। फिर नेता ने कहा—'यह हमारे ही देव "हरकुलीस" हैं। इन्हें सम्मान दो।'

'हरिकुलीस! हरिकुलीस! जुपीटर का पुत्र हरिकुलीस!' यवन चिल्लाए परन्तु जनता के भयानक कोलाहल में यह जय-नाद डूब गया।

मूर्ति राज-मार्ग तक पहुँच गई थी। रथ के शिखर पर पड़ती हुई सूर्य की आभा धुँधली हो चुकी थी। नगर-वीथियों में उल्काएँ जल उठीं और विशालकाय उल्काधारियों के बीच में राज-पथ से आगे बढ़ती हुई, जन-समुद्र को चीरती वासुदेव की प्रतिमा यवन-विजय पर धीरे-धीरे मुस्कराती रही। शङ्खों, घड़ियालों और मृदंगों के गंभीर घोष ने जनता का कोलाहल दबा दिया। प्रधान राज-मंदिर के सिंहद्वार पर पहुँच कर मूर्ति की आरती उतारी गई। मथुरा के विशाल राज-प्रासादों और यवनाधिपतियों के गृह-वातायनों में घूमती, मँडराती चन्दन-सुवासित अगरु-धूम की शिखाएँ आकाशचुम्बी अट्टालिकाओं पर प्रदोष के मेघों की भाँति तिरने लगीं।

७

मधुवन पहुँचते-पहुँचते आधी रात हो गई। तय हुआ, सुबह तक बाहर के एक मन्दिर में ठहरा जाय। तड़के, जैसा हो, देखें। मार्ग में समाचार मिल गया था कि कर्कोटक के युद्ध में यवनों की भीषण पराजय हुई। परन्तु कृष्णदेव जानते थे कि दिमित्र साहसी है। वह कान्यकुब्ज के मार्ग से आगे बढ़ सकता है। उज्जयिनिका उसका केन्द्र है। उस केन्द्र

से वह सौवीर और सौराष्ट्र तक बढ़ सकेगा। हिमालय की तलैटी में चलते-बढ़ते साकेत पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार सारा मध्यप्रदेश यवनों से आतंकित था। मौर्यों का खड्ग कुंठित हो गया था। देश किसी नई शक्ति के जन्म के लिए तैयार था!

मन्दिर में एक यवन-भिक्षु रह रहा था। उसे इधर आये हुए कई वर्ष हो गये थे, ऐसा जान पड़ता था। वह शौरसेनी भली-भाँति बोल लेता था। कृष्णदेव से उसकी बातचीत हुई। उसने कहा, मौर्यों का राजदूत मेगस्थनीज़ उसके पितामह का मित्र था। उनके देश में भारत के प्रति उत्साह और जिज्ञासा का भाव चला आता था। उससे उत्साहित होकर वह इधर चला आया। दिमित्र के मथुरा-आक्रमण से पहले वह इधर था। राजकेन्द्र से दूर यवन-साधु का किसको पता? यहाँ उसकी आजीविका के साधन थे मूर्तिकला और चित्रकला। इनका उसे अच्छा अभ्यास था। इसके प्रमाण मन्दिर के प्रांगण में कटे-छटे अनेक शिला-प्रस्तर थे। मौर्यकाल में ही मथुरा की कला पर यूनानियों का प्रभाव पड़ रहा था। बौद्धों के अनेक सुन्दर मन्दिर मथुरा में थे और उनकी बुद्ध-प्रतिमाओं के छल्लीदार घुँघराले बाल और ग्रीक मुख-मुद्रा इस प्रभाव के प्रमाण थे। नये हिन्दू-मन्दिर भी इस प्रभाव से अछूते नहीं थे। इन कलाओं को सीखने के लिए कितने ही भारतीय युवक उसके शिष्य बन गये थे। उसके साधुवेष और भारतीय आचार-विचार ने जनता के हृदय में उसका स्थान बना दिया था।

यवन साधु ने कहा—"क्षत्रप पडरौस की फौज मधुबनी घेरे है। अभी इस स्थान पर सेना नहीं पहुँच सकी है।" उसके देशवासी पवित्र भारतभूमि पर जो अत्याचार कर रहे हैं, उससे वह स्वयं लांछित जान पड़ता था।

कृष्णदेव ने कहा—'इसमें लज्जित होने की कोई बात नहीं।'

यवन साधु ने कहा—'लज्जित होने की बात है। हमारे देश में

प्रत्येक नागरिक को मत देने का अधिकार है। जनता का शासन है। किसी भी देश पर अत्याचार कर वह देश अपमानित होता है। प्रत्येक जन इसके लिए उत्तरदायी है! हममें से जो भारत के सम्बन्ध में जानता है, वह उसका ऋणी है।

'हमारे पिता कहा करते थे कि यवन-पंडित मैगस्थनीज़ कई महीने मथुरा रहे। मौर्यों का तब प्रारम्भ शौर्य था। तब वहाँ ब्राह्मणों के धर्म की पताका उड़ रही थी।'

'हाँ, परन्तु सम्राट् अशोक ने बौद्ध-धर्म को राजधर्म बना कर ब्राह्मण-धर्म को दबा लिया। मथुरा बौद्ध-मन्दिरों से भरा हुआ था। इधर कुछ वर्षों से हिन्दू-मन्दिर बन रहे हैं जिनमें मालवों के कृष्ण की मूर्ति स्थापित की जाती है। राज-धर्म बौद्ध-धर्म है, परतु अब धर्मामात्य के हाथ निर्बल हैं। अंतः विरोध और सैनिक-शैथिल्य के कारण मगध निर्जीव है।

श्रद्धा से नत होकर यवन साधु ने कहा—'परन्तु भारत की संस्कृति अभी निर्जीव नहीं हुई है। हम यवनों को अभी बहुत सीखना है।'

सवेरा होते ही मधुवन को यवन सैनिकों ने घेर लिया। नागरिकों के लिए उस घेरे को तोड़ कर बाहर जाने का कोई उपाय नहीं था। चमकते हुए फौलाद के शिरस्त्राण पहने हुए कुंचित दाढ़ी वाले यवन सैनिक मधुवनियों को कंस के कालदूत लगते थे। लोग आश्चर्य से परस्पर देखते और किंकर्तव्यविमूढ़ बने खड़े रहते। दोपहर होते-होते यवन सैनिकों और मधुवनियों के संघर्ष का कारण भी उपस्थित हो गया। आभीरों की सुन्दर चिबुक वाली, बड़े-बड़े नेत्रों वाली स्वतंत्र नारियाँ यवन सैनिकों की आँख से कब तक ओझल रह सकतीं। किसी मनचले तरुण यवन सैनिक ने किसी निडर आभीर तरुणी को छेड़ दिया। क्षण में सारे मधुवन में बिजली दौड़ गई।

कृष्णदेव इस बदली हुई परिस्थिति से चिंतित हो गए। क्या

होगा भगवन्! इन हूणों से मधुवन की रक्षा का क्या उपाय है। उन्होंने देखा, मधुवन के नर-नारी चारों ओर से उमड़े आ रहे हैं और यवनों के घेरे से बाहर निकल जाने का प्रयास कर रहे हैं। कदाचित् वे सामूहिक रूप से मधुवन को छोड़ कर बाहर चला जाना चाहते हैं। कुछ देर में मधुवन सूना हो जायेगा। परन्तु उधर यवनों के सैनिक दृढ़ भित्ति बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। क्षत्रप पडरौस के यवन सैनिक बर्बरता के लिए प्रसिद्ध हैं।

मधुवनियों के नेता ने ललकार कर कहा—'हमें जाने दो। हम तुमसे लड़ना नहीं चाहते।'

मद से आँखें लाल किये एक तरुण सैनिक ने उत्तर दिया—'तुम जा सकते हो, तुम्हारी यह चंचल स्त्रियाँ हम यवन सिपाही परस्पर बाँट लेंगे।'

उस नेता ने कहा—'तरुण, तुम मधुवन के आभीरों को नहीं जानते। वे प्राण देकर भी नारी की मर्यादा की रक्षा करते हैं।'

बात पूरी तरह न समझ कर तरुण यवन सैनिक ने ठट्ठा लगाया। पीठ पर लटके पात्र को आगे लाकर उसने दो-एक घूँट पिये और कोई अश्लील गाना गाने लगा।

कृष्णदेव ने बड़ा प्रयत्न किया कि वह भीतर मधुवनियों तक पहुँच जायँ। परन्तु यह असम्भव था। दोपहर ढलते-ढलते मधुवनियों और यवन सैनिकों में तुमुल-युद्ध आरम्भ हो गया। लोग ईंट-पत्थर की वर्षा करते और यवन-सेना के प्रहार के समय घरों में जा छिपते। कुछ आभीर तीर अच्छा चलाते थे। अब वह क्षेत्र में आये। थोड़ी ही देर में यवन सेनानी को पता चल गया कि मधुवनियों को परास्त करना और उनका बल तोड़ना इतना सरल नहीं है। संध्या हो चली थी। मधुवन के घर-घर में आभीर माताएँ और कन्याएँ वृष्णियों और आभीरों के कुलदेव वासुदेव के विग्रह के सम्मुख खड़े हो, धूप-दीप से आरती

उतारती हुई, वन्दना के गीत गा रही थीं। शंख, मुरज, मृदंग और घड़ियालों की मेघ-गंभीर-निर्घोष ध्वनि प्रार्थना की भाँति मधुवन के घर-घर से ऊपर उठ अनन्त आकाश की ओर बढ़ रही थी। सारा गाँव आकस्मिक आपत्ति से विचलित हो उठा था और वासुदेव की शरण में अपनी श्रद्धांजलियाँ उपस्थित कर अपने हृदय को हलका कर रहा था। कृष्णदेव और उनके साथियों का मस्तक श्रद्धा से नत हो गया।

परन्तु तभी एक ओर से अग्नि की प्रचण्ड ज्वालाएँ उठने लगीं। यवन-सेना-नायक की आज्ञा थी कि मधुवन के विद्रोहियों को घेर कर अग्नि देवता के सुपुर्द कर दिया जाय। पेय से मस्त, भयंकर दाढ़ी वाले पडरौंस के काल-दूत प्रलय का ताण्डव-अट्टहास कर रहे थे।

धीरे-धीरे मधुवन के चारों ओर से दावाग्नि प्रज्वलित होकर गाँव की ओर बढ़ने लगी। इस भीषण कालरात्रि में कमर में चौड़े खड्ग लटकाये, मदिरा से आँखें रतनारी किये यवन सैनिक नरपिशाच जान पड़ते थे। उन्हें पता था, मधुवन का नर-समूह अवश्य एक बार बाहर निकल कर जूझने की चेष्टा करेगा। तब उनका खड्ग रक्त से स्नान कर प्रसन्न होगा। वे ज़ोर-ज़ोर से शब्द करते और अपनी यावनी भाषा में चिल्ला-चिल्ला अपालो के गीत गाते। मधुवन के ऊपर का आकाश आग की लपटों, धूम्र-शिखाओं और भयंकर दुर्गंधि से भर गया।

कृष्णदेव से रहा नहीं गया। उसने कहा—'नागराज, देखो, मधुवन जला जा रहा है। कृष्ण का केलिकुंज, वासुदेव की लीलाभूमि, वृष्णियों का गर्व मधुवन प्रातःकाल तक जल कर क्षार हो जायेगा। मथुरा यह समाचार इसी समय पहुँचना चाहिए। शौरसेन प्रदेश को एक बार फिर रक्त की आहुति देनी पड़ेगी।

नागराज इतना भावुक नहीं था। उसने कहा—'मथुरा से सहायता मिलना कठिन है। सहायता मिलते-मिलते सुबह हो जायेगी। तब तक मधुवन क्षार हो जायेगा।'

'तब क्या हो ?'

'क्या यवन क्षत्रप से बात-चीत नहीं की जा सकती ?'

हताश स्वर से कृष्णदेव ने कहा—'क्षत्रप मद्यपान किये किसी कुंज में पड़ा होगा। उसे ऐसा सुन्दर अवसर कब मिलेगा। कृष्णदेव को धिक्कार है कि उसकी आँखों के सामने मधुवन का सतीत्व उजड़ जाये, नारिकेल के कुञ्ज क्षार हो जायें, वेतसवन में आग धधक उठे और वह यह दृश्य देखने के लिए जीता रहा। मैं कहता हूँ, नागराज, लो हाथ में शस्त्र और एक बार इन यूनानियों के शिरस्त्राणों से लोहा बजा दो। वृष्णि मरना भी जानता है, यह दिखा दो। वासुदेव के उपासक नृत्य, गीत और कला की ही पूजा नहीं करते, वे महारौद्र का प्रलयंकर तांडव नृत्य भी जानते हैं। वासुदेव भगवान ने कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में परंतप से कहा था—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप॥

आज वही मन्त्र हमें ललकार रहा है।

क्रोध से उसकी आँखें जल उठीं। पूर्व के कुंजों की आग की लपटें गाँव को छूने लगी थीं।

गाँव के एक कोने से तीरों की बौछारें आने लगीं और क्षत्रप के सैनिक उनकी मार सह कर विचलित होने लगे। रात्रि के अन्धकार में लपटों से लाल प्रकाश में खड़खड़ा कर गिरते हुए यवन सैनिकों की चीत्कार और करुण पुकार हृदय को दहलाने लगी। एक तीर सेनापति पडरौस के शिरस्त्राण पर भी लगा और वह उसके झोंके से गिरते-गिरते बच गया। उसने आज्ञा दी, मधुवन पर सशस्त्र आक्रमण हो। स्त्री-पुरुष, बच्चा-बूढ़ा जो मिले उसे मृत्यु के घाट उतार दिया जाय। सैनिकों ने अग्नि के घेरे में धीरे-धीरे बढ़ते हुए भयंकर घोष के साथ मधुवनियों

पर आक्रमण कर दिया। मधुवनियों के तीर उस आक्रमण की गति को रोकने में असफल रहे।

कृष्णदेव अपने साथियों के बीच में खड़े यह दृश्य देखते रहे। यवनों के आततायी खड्गों से मधुवनियों का बचना असम्भव है यह जानते थे। परन्तु शांत रहना भी कठिन था। उन्होंने धीरे-धीरे मधुवन की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। गुल्मलताओं में छिपते हुए, अग्नि की लपटों को बचाते हुए, धीरे-धीरे वे आगे बढ़ रहे थे। यवनों का भयंकर प्रहार और मधुवन के आहत नर-नारियों का करुण स्वर जैसे उनका हृदय मंथन कर रहा था।

८

नदी से पानी की झारी लिये इन्दु लौटी। वसन्त प्रभात का पवन उसकी आजानुप्रलम्बित केशराशि को दुलरा रहा था—उसकी लटें मलय के छंदों की चाल पर नाच रही थीं। उसका वक्ष धानी रंग के उत्तरीय के नीचे, कंचुक से कसे हुए वर्तुलाकार आवर्त्तों में ऊपर उभर आया था, और श्रम की कुछ बूँदें उसके गोरे मस्तक पर प्रातःकालीन म्लान नक्षत्रों की भाँति झलकने लगी थीं।

उस तरुण युवक ने उसके जीवन में नये प्रश्न उठा दिये थे। उसका सुन्दर मुख, उसका हृदयग्राही सौजन्य, उसका वंशीवादन! रह-रहकर एक निरर्थक टीस से उसका हृदय विकल हो जाता, रह-रह कर एक अज्ञात, अस्फुट वेदना के प्रताड़न से वह काँप उठती। आचार्य ने उस दिन किस मृदुलता से पूछा था—'यह युवक तुम्हें कैसा लगा, इन्दु?' और कितनी लज्जा से वह केवल कह सकी थी—'सौम्य!'

यह मालव लड़की मालव कुमारियों की तरह स्वतंत्र और उच्छृङ्खल तो नहीं है। तरुण कुमार की बात सोचती है तो लज्जा उसकी कल्पना के चरण पकड़ कर उसे आगे बढ़ने नहीं देती। वह तरुण इस मालविका को बहुत प्यारा लगता है।

इस बीच में रत्नांबर और दिवाकर से उसका संपर्क बढ़ गया है, परन्तु वह केवल इसलिए कि उसके भीतर-भीतर एक नवीन मधुर भाव जाग गया है। एक नवीन उल्लास उसके मन को चमत्कृत करने लगा है। जैसे उस तरुण अभ्यागत के वंशीरव ने उसके कल्पना-नेत्रों के आगे कुञ्ज-भवनों से भरा और अशोक के नये खिले स्तवकों की गन्ध से महका-महका एक नवीन परीदेश खोल दिया हो। वह सोचती, पिता उस तरुण राज-पुरुष अग्निमित्र की बात बार-बार क्यों कहते हैं; क्यों वह उस युवक पर मुग्ध हैं? किस राज-परिवर्तन की आकांक्षा है उन्हें और यह कैसा राजचक्र है जिसके वे सूत्रधार बने हुए हैं? इधर कई दिनों से गानर्द में विशेष चहल-पहल थी। कई राज-पुरुष आचार्य।के पास आ चुके थे। इन्दु इतना तो जानती थी कि वे महाभाष्य के सूत्र सुनने नहीं आये होंगे। जिन भाष्य-सूत्रों को घोटता-घोटता बेचारा बन्धु दिवाकर दिन-दिन दुबला हुआ जा रहा है, उसमें इतना रस नहीं हो सकता कि दूर मगध से पाटलिपुत्र और कुसुमपुर के राज-नागरिक उन्हें सुनने और उन पर लम्बे-लम्बे तर्क-वितर्क करने के लिए गानर्द आयें। वह जानती थी कि पिता पतंजलि इधर कई दिनों से मौन हैं, पता नहीं किस मर्मान्तिक पीड़ा ने उनका जीवन-स्रोत इतना रुद्ध कर दिया है कि स्वयं उनकी लाड़ली वह भी उनके स्नेह को जगा नहीं पाती।

वह क्या जानती थी आचार्य पतंजलि के महाभाष्य के सूत्र दिवाकर जैसे मेधावी युवा के लिए नहीं हैं। जो 'सूत्र' देश की बिखरी हुई जातियों के ताने-बाने को ब्राह्मणों के गरुड़ध्वज के नीचे एक शक्ति, एक

जातीयता के रूप में एकत्रित कर रहे थे, उन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता था। महाभाष्यकार पतंजलि राष्ट्र के सूत्रधार के रूप में देश के सामने आ रहे थे। पुष्यमित्र और अग्निमित्र को लेकर वे एक विशाल राष्ट्रयज्ञ का आयोजन कर रहे थे। परन्तु इस बात को इन्दु कैसे जानती? वह दिनों, महीनों आश्रम से दूर रहते। महाभाष्य के सूत्र लिये वे पंडितों की सभा में जाते और उनसे आदर-सत्कार पाते। परन्तु राज-पुरुषों की सभा में उनका मान इन सूत्रों के कारण नहीं हो सकता था। यहाँ वे एक नये रूप में सामने आते। बौद्धों के अनाचार और मौर्यों के धर्मामात्य ने राष्ट्र की सैनिक भित्ति ही समाप्त कर दी थी। मौर्य-सेना चन्द्रगुप्त के बाद किसी बड़े युद्धक्षेत्र में नहीं आई थी, वह अकर्मण्य और उच्छृङ्खल हो रही थी। उसके भीतर विश्वास का बल दुर्बल हो गया था। जनता के प्रजातन्त्र राज्य पहले ही नष्ट हो चुके थे। पश्चिम में मद्र जैसे एक दो प्रजातंत्र राष्ट्र नाममात्र को प्रजातन्त्र अवश्य चले आते थे, परन्तु सम्राट् चन्द्रगुप्त की विजयों ने देश को निरंकुश सत्ता की क्रीड़ाभूमि बना दिया था। जिस वैशाली प्रजातंत्र राष्ट्र की शासन-पद्धति के अनुकरण में भगवान् बौद्ध ने अपना धर्मचक्र चलाया था, वह वैशाली राष्ट्रतंत्र थोड़े दिन बाद अजातशत्रु ने नष्ट कर दिया। केवल दक्षिण के मालव और मौर्य-राज की पश्चिमी सीमा के मद्र, वृष्णि और आभीर ही जनसत्ता की भावनाओं को जीवित रख रहे थे। परन्तु गार्नद के पतंजलि ने देखा, मालव के प्रजातंत्र का स्वप्न कल्पनामात्र रहेगा। बौद्ध मौर्य साम्राज्य के बाद राजक्षेत्र में इतना बड़ा शून्य उपस्थित हो सकता था कि चक्रवर्ती की प्रतिष्ठा के बिना वह अपूर्ण रहता। पश्चिम में दिमित्र के यवन सैनिक मौर्य साम्राज्य पर बराबर प्रहार कर रहे थे और पूर्व में मेघवाहन कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेल जैन-धर्म की पताका आकाश में उड़ा रहा था। ऐसी विषम परिस्थिति में मगध के दुर्बल सम्राट् शत-

न्वा और उसके निर्वीर्य पुत्र ब्रहद्रथ के स्थान पर गीता-धर्म की जय-दुन्दुभी भी बजाने का समय आ गया था। पुष्यमित्र से आचार्य की बालमैत्री थी। सेनापति पुष्यमित्र का नाम यवन दिमित्र और कलिंगपति खारवेल को मगध सिंहासन की ओर से विरक्त कर देने के लिए काफी थी। परन्तु मौर्यों की दुर्बल राजलक्ष्मी ब्राह्मण चाणक्य की बाट जोह रही थी। पतंजलि ने चाणक्य का स्थान ग्रहण कर लिया और पुष्यमित्र ने गरुड़ध्वज की स्थापना का संकल्प किया। वह दिन आर्यावर्त के इतिहास में अमर होगा जब गरुड़ध्वज धर्मचक्र का स्थान लेगा और ब्राह्मणों के मस्तिष्क और क्षत्रियों के वीरदर्प से संचालित भारत-राष्ट्र की सेना-वाहिनी जय के चरण रखती हुई आकाश को गुञ्जायमान करेगी।

परन्तु इस चित्र में इन्दु कहाँ थी—आचार्य पतंजलि की पोष्या सरल मालविका इन्दु पिता के इस राजनैतिक अभिमान की बात क्या जाने ? वह यह सब समझ नहीं पाती। उठता हुआ वय है उसका, जब तरुणाई के प्रभात में प्रेम की मलय ने पहली बार हलका-सा स्पंदन उठाया है, जब अग्निमित्र का स्नेह सौजन्य, उसका कला-प्रेम उसकी अंतरात्मा को छू गया है।

आश्रम में जब वह पहुँची पिता उसी तरह पालथी मारे मौन ताल पत्रों पर सुई जैसी बारीक लेखनी से कुछ लिख रहे थे। कई बार उसने इन अक्षरों को पढ़ने का प्रयत्न किया है, परन्तु ये देववाणी के अक्षर नहीं हैं, ये किस प्रकार के अक्षर हैं, वह नहीं जानती। एक बार पिता से पूछने पर उन्होंने 'पिशाची' भाषा के अक्षर बताया था, तब उसे सहसा हँसी आ गई थी। इन अक्षरों में न जाने मंत्र कीलित थे या क्या, राजपुरुष इन्हें पढ़कर स्तब्ध रह जाते। उसने झारी एक ओर रख दी। बाहर चली आई। पास के वेतस-कुंज में दिवाकर अष्टाध्यायी

का कोई सूत्र घोट रहा था। पक्षियों के प्रातःकलरव में उसका कठोर स्वर हास्यास्पद हो उठता था।

धीरे-धीरे चलकर वह कुंज में पहुँची।

दिवाकर पाठ में ध्यानमग्न था। उसने देखा नहीं। हाँ, स्नान कर उधर से जाते हुए रत्नांबर ने हलका ठहाका लगाया।

'बन्धु दिवाकर!'

वह भी निकुञ्ज में चला आया। शिलापीठ पर बैठते हुए बोला—'जा, पाणिनी का श्राद्ध मत कर। नहा। इन्दु बहन, इस दिवाकर को यहाँ बैठे-बैठे पाण्डुरोग हो जायगा।'

वह हँस पड़ा।

दिवाकर चेतन हो गया। उसने हँसने का उपक्रम किया।

रत्नाम्बर ने कहा—'आचार्य का पट्टशिष्य है। वह उधर बैठे भोजपत्र काले कर रहे हैं, यहाँ यह पाणिनी, पाणिनी।'

इन्दु को बुरा लगा। 'तुम पिताजी की हँसी न उड़ाओ, रतन।' वह ईषत् क्रोध से बोली—'मैं कह दूँगी।'

रत्नांबर ने क्रोध किया। 'क्या?'

'कि पिता भूर्जपत्र काले करते हैं।'

'सो तो है ही।' सँभल कर वह बोला, 'यह भी कोई गाली है।'

'तुम क्या कहते थे?'

'इन्दु', वह बोला, 'यहाँ आश्रम में राजपुरुष बहुधा आते हैं और आचार्य भूर्जपत्र पर क्या गोल-गोल लिखते रहते हैं?'

'मैं कुछ नहीं जानती'—इन्दु बोली—'तुम पिता से क्यों नहीं पूँछते?'

रत्नाम्बर चुप रहा।

कुछ देर बाद वह बोला—'तुम्हें उस तरुण की याद है, इन्दु, जो उस दिन बाँसुरी बजा गया है।'

'हाँ !'

'वह कौन था ?'

'कौन था'—जैसे कुएँ के भीतर की प्रतिध्वनि हो, इन्दु ने पूछा।

'मौर्य राजपुत्र ब्रहद्रथ और सेनापति पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र इधर आये हुए हैं। कर्कोटक में यवनों और मौर्य सेना में भीषण युद्ध हुआ है, यवनों की पराजय हुई है, परन्तु अग्निमित्र आहत हुए हैं।'

इन्दु के हृदय में टीस उठने लगी।

रत्नाम्बर किंचित मुस्कराया। इन्दु के मुख पर पीड़ा की छाया स्पष्ट थी। 'मुझे इस युद्ध की बात का कोई पता नहीं'—वह बोली—'हाँ, इस युद्ध का पिता के भूर्जपत्र से संबन्ध है ?'

'वह नहीं बताऊँगा'। रत्नाम्बर मुस्कराया—'चाणक्य और पाणिनि में क्या संबन्ध है, तुम बता सकते हो ?' उसने दिवाकर की ओर देखा।

दिवाकर को रत्नाम्बर की उलझी बातों में रस नहीं मिलता था। उसने हँसकर कहा—'मान लो मैं पाणिनी हूँ, तुम चाणक्य हो। फिर समझो, अन्तर क्या है ?'

रत्नाम्बर ने इन्दु को उलझी देख अट्टहास किया।

तभी कुटी के बाहर आचार्य का स्वर सुन पड़ा। वह इन्दु को पुकार रहे थे। 'आई !' कहती हुई इन्दु कुंज-भवन से निकल कर पास आई।

'रत्नाम्बर कहाँ है ?'

'पढ़ता है'

'दिवाकर ?'

'वह भी।'

'तेरा मन तो नहीं ऊबता ?' उसके खुले हुए श्यामल केश-कलापों को दुलराते हुए आचार्य ने कहा। 'इधर मैं लिखने में लगा हूँ।'

'नहीं, पिता ! यहाँ बड़ा अच्छा है।' वह नम्रता से बोली।

'परन्तु तू अब प्रातः अपनी वीणा क्यों नहीं बजाती, क्यों बेटी ?'

वह 'क्यों' का क्या उत्तर दे।

पतंजलि कुछ क्षण ध्यानमग्न हो गये। उन्होंने कहा—'इस देश में अव्यवस्था का राज है, बेटी ! अब पाणिनी का युग नहीं रहा। बौद्धों ने देववाणी का स्थान पाली को दे दिया है। देववाणी और उसका साहित्य आज लांछित है। जब तक देववाणी राजसिंहासन पर नहीं बैठती, तब तक न पाणिनी उसे जीवित रख सकता है, न महाभाष्यकार। अतः पहले देववाणी की प्रतिष्ठा करनी होगी।'

हँस कर वे फिर बोले—'देख, तेरे पिता को कितना काम करना पड़ता है !' इन्दु उनकी गोद में छिपती हुई स्नेह की हँसी हँस दी।

पतंजलि ने पुकारा—'रतन, दिवाकर ! कहाँ हो तुम ? चलो पाठ का समय हो गया। वेदपाटी ले आओ !'

६

दिन आते हैं और चले जाते हैं। समय के प्रवाह को रोक रखने की शक्ति किसमें है ? मनुष्य अपना संवत् लिये बैठा रहता है। समय उसे पीछे छोड़ जाता है। काल के महास्रोत से आनन्द और प्रेम को कुछ क्षण पकड़ रखना कितना कठिन है !

अग्निमित्र इस सत्य को जानता है। कर्कोटक के युद्ध में यवनों की भीषण पराजय हुई। वह आहत हुआ। महीनों उसे रोग-शय्या पर पड़ा रहना पड़ा। वह उतना अशक्त हो गया था कि राजवैद्य त्रिशर ने उसे हिलने-डुलने को भी मना कर दिया था। परन्तु वह रोग-शय्या उसे प्रिय थी। जब उसने आँखें खोलीं, इरावती उसके पास थी।

इरावती की अथक सेवा-सुश्रुषा का ही यह परिणाम है कि वह आज इतना स्वस्थ हो सका है। इस बीच में कितनी बड़ी उथल-पुथल हो गई, यह आज भी उसकी चिंतना का विषय है। शतधन्वा की मृत्यु हो गई और बृहस्पतिमित्र अब मगध का सम्राट् है। कितना बड़ा परिवर्तन! जो राजपुत्र कर्कोटक के युद्धक्षेत्र को दूर से खड़ा हुआ देखता रहा, राजमुकुट उसके सिर पर है और बेचारा अग्निमित्र आज भी कुछ नहीं है। उसका मन भीषण धिक्कारों से भर गया।

उस दिन की घटना उसे अच्छी तरह याद है। उसे वह भूल भी नहीं सकता। धीरे-धीरे स्वस्थ हो रहा था। वसन्त की दोपहरी थी। एक अलस भाव से वह भीतर-भीतर डूबा जा रहा था। तभी इरा आई।

'इरा! तुम्हें महाकाल के मन्दिर के पूजा-पाठ से छुट्टी मिल जाती है न?'

'मैं क्या क्रीतदासी हूँ? मैं तो कला की उपासिका हूँ'—वह बोली। 'क्या तुम समझते हो मैं बंदी हूँ?'

वह मुस्कराई।

'मैं न जाने कब तक अस्वस्थ रहूँगा!' वह हताश स्वर में बोला। 'जीवन हारा-हारा जान पड़ता है।'

'तुम गानर्द क्यों नहीं चले जाते? वहाँ आचार्य हैं। वहाँ नदी का तट है। एकांत है। वहाँ तुम शीघ्र ही स्वस्थ हो जाओगे।'

'वहाँ तुम तो नहीं होगी।' मुख पर मन्द मुस्कान खेल गई।

इरा बोली—'अग्नि, मैं क्या तुम्हारी कोई हूँ? तुम मुझे लेकर खेल करते हो, यह क्या मैं नहीं जानती! मैं क्या यह नहीं जानती, नारी पुरुष का खिलौना है? नगर भर तुमने उनसे खेला और उसे तोड़ दिया। आज नारी के पास न गार्गी का ज्ञान है, न सीता की श्रद्धा। आज तो वह पुरुष की भोग्या मात्र है।'

'तुम गलत नहीं कहतीं'—अग्निमित्र ने ध्यान से उसकी ओर देखकर कहा—'परन्तु यह तुम्हारा अग्निमित्र तुमसे दूर नहीं जा सकता। तुम्हारे अंचल की छाया में ही उसे शान्ति मिलती है, यह तुमने भुला दिया, इरा !'

इरा हँस हड़ी।

'तुम पुरुषों के कथन कितने अस्वाभाविक होते हैं !' उसने मंद हास्य से कहा—'तुम नारी को धोखा नहीं दे सकते। जानते हो आज कुमार बृहस्पतिमित्र ने क्या कहा था ?'

श्वास रोक कर उसने सुनने की चेष्टा की। उसकी धमनियों में रक्त दौड़ने लगा।

उसने कहा, 'इरावती मैं तुम्हें कुसुमपुर की सम्राज्ञी बनाऊँगा। कुसुमपुर का मुकुट तुम्हारे चरणों में लोटेगा।'

उसने अट्टहास किया जैसे चाँदी का शङ्ख बज उठा हो।

अग्निमित्र की शिराओं में ईर्ष्या की आग जलने लगी। कुमार का इतना साहस है। वह जानता था, बृहस्पतिमित्र इस इरा पर मुग्ध है, परन्तु इस तरह की बात, यहाँ तक वह बढ़ सकता है, इसकी कल्पना भी उसने नहीं की थी। उसके भीतर-भीतर हँसी उसे गुदगुदाने लगी। उसने कहा—'ठीक है, नारी की सार्थकता यही है, इरा ! कर्कोटक के युद्ध में जिसने कुमार की वीरता देखी है, वह भावी मौर्य शासक के शौर्य से भी परिचित हो गया है। अब मौर्यों का शौर्य अंतःपुर तक ही सीमित रह गया है।'

वह मुस्कराया।

'तुमने उससे क्या कहा ?'

'मैंने कहा, कुसुमपुर की सम्राज्ञी के पद पर इरा शोभा नहीं देगी। उसके लिए कोई और ढूँढ़िये। अपने मित्र की सलाह लीजिये।'

अग्निमित्र मन्द मुस्कराता रहा।

कुछ देर बाद गंभीर हो उसने कहा—'तुम इरा, जानती नहीं। मौर्य साम्राज्य के नीचे-नीचे एक भयङ्कर ज्वालामुखी विस्फोट उबल रहा है। न जाने कब यह विशाल साम्राज्य पीपल के पत्ते की तरह डुलने लगे। मौर्य की खड्ग कुंठित हो गई। धर्मचक्र के आगे राजदंड झुक गया है। कलिंगपति खारवेल के गुप्तचर कुसुमपुरी के पराय-भवनों और द्यूतगृहों में घुस गये हैं। इधर कर्कोटक युद्ध के बाद दिमित्र चुप नहीं बैठेगा। मथुरा तक यवन पहुँच गए हैं। उन्होंने मधुवन को भस्म कर दिया है। कृष्णदेव से यह सूचना मुझे मिली है। शीघ्र ही यवन साकेत पर आक्रमण करेंगे। फिर षड्यंत्रों, विलास और मदिरा की नगरी कुसुमपुरी कब तक स्वतंत्र रहेगी! बौद्ध विहारों का यह देशव्यापी जाल भारत-राष्ट्र की धमनियों में विष का संचार कर रहा है। युवराज स्वयं लोलुपता में फँसे हैं। तब इस साम्राज्य की रक्षा कौन करेगा?'

उत्तर की ओर की खुली खिड़की से वसन्त-पवन का एक सुगंधित झोंका उठा और दोनों के अंगों में प्रणय-पुलक उठाता हुआ चला गया। इरावती के मुख पर एक अल्हड़ लट पवन झकोर के साथ नृत्य करने लगी! उसने बायें हाथ से उसे जमाने की असफल चेष्टा की। अग्निमित्र उसी ओर देख रहा था।

उसने निःश्वास लेकर कहा—'इरा, तुम बड़ी सुन्दर हो। परन्तु तुम अपनी इस अल्हड़ लट की भाँति ही कठोर हो।'

इरा मुस्कराने लगी।

'तुम पुरुषों का अस्त्र है चाटुकारी!' उसने कहा—'और सहस्रों वर्षों की शिक्षा ने तुम्हें पटु बना दिया है।'

अग्निमित्र ने उसे अपने ऊपर खींच लिया। एक अप्रतिहत उन्माद से वह आकुल हो उठा। इरा ने छूटने का प्रयत्न नहीं किया। गंगा की शय्या की पाटी से टिक कर वह उसके उत्तेजित मुख को देखती रही।

उसी तरह उसे पकड़े हुए अग्निमित्र ने शिथिल स्वर से कहा—'मैं ही क्या, जो तुम्हें देखेगा, तुमसे प्रेम करने लगेगा, इरा। मुझे बृहस्पतिमित्र से ईर्ष्या जरा भी नहीं है, किंचित भी नहीं।'

इसी समय उत्तर की खुली हुई खिड़की से बृहस्पतिमित्र ने झाँका। इरा ने देख लिया। उसने सहमे स्वर से कहा—'कुमार हैं।' वह छूट कर प्रकृतिस्थ हो गई।

'अग्निमित्र, कैसे हो तुम?' उसके होंठ हँस रहे थे।

अग्निमित्र बोला नहीं। उसके हृदय में, शरीर के रोम-रोम में, कुंठा जाग्रत हो गई थी। मौर्य-युवराज इतना अभद्र हो सकता है। क्या वह उसे ईश्वर की दया पर नहीं छोड़ सकता?

'आज वह अस्वस्थ नहीं हैं'—व्यंगपूर्वक वह बोली।

'ओ!' युवराज रहस्यमयी हँसी हँसने लगा। 'तुम ठीक कहती हो।'

अग्निगित्र ने उसकी ओर ग्रीवा भंग कर कहा—'क्या मैं इरा को विदा कर दूँ?'

'नहीं। मैं तो केवल तुम्हें देखने चला आया था। अच्छा विदा!'

जब वह चला गया, अग्निमित्र ने इरा की ओर देखा। इरा चुप थी। स्पष्टतः कुमार का व्यवहार उसे भी अच्छा नहीं लगा था। उसने कहा—'मौर्य युवराज सामान्य शिष्टाचार भी भूल गये हैं।'

उस दिन से अग्निमित्र धीरे-धीरे कुमार की ओर से विरक्त होता गया। इस दुर्बल-हृदय युवक में क्या है, जो वह उसके लिए प्राण दे। पिता पुष्यमित्र भले ही उसे उच्छृङ्खल कहें, वह मौर्यों के खड्ग पर विश्वास नहीं करता। जिनकी भुजा में शक्ति है, वह कापुरुषों का साथ नहीं देते। खारवेल आये या दिमित्र, मौर्यों के दिन गिने-चुने हैं। देवानांप्रिय अशोक का राजकुल अब चलता नहीं दिखलाई पड़ता। सारे साम्राज्य पर ऐसी निस्तब्धता छाई है, जैसे कोई भीषण झंझावात उठने वाला हो। मौर्य-दंड अब जनता के धन-बल की रक्षा

नहीं कर सकता। मालवे के शिव महाकाल के उपासकों ने नास्तिक बौद्धों की गुलामी की कसम नहीं खाई है। वृष्णि और आभीर नये वासुदेव धर्म की गरुड़ध्वजा उठा रहे हैं। शिव महाकाल के पुजारियों को यह नवीन धर्म अमान्य नहीं है। एक नए सार्वभौम वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हो रही है। यह नया धर्म ही भावी युगों का धर्म होगा, जान यही पड़ता है। मौर्यों का धर्म-विश्वास शिथिल हो गया। जैनों और यवनों का प्रतिरोध करना होगा। मुंडकों पर अंकुश रखना होगा। वह दिन दूर नहीं है जब कैलाश से स्वर्णद्वीप और राक्षसद्वीप तक ब्राह्मणों के इस नये धर्म की पताका फहरायेगी। सहस्र-सहस्र कंठों को भेद कर अनन्त-व्यापी जयघोष उठेगा—जय महाकाल, जय वासुदेव !

१०

मधुवन को घेर कर भीषण ज्वालाएँ राक्षसी अट्टहास कर रही थीं, यवनों के आततायी खड्ग निरीह बलिपशु की भाँति मधुवनियों के भीषण संहार के लिये तुले हुए थे और उधर कृष्णदेव, नागराज और उनके साथी गुल्म-लता मंडपों में छिपे हुए इस संघर्ष के केन्द्र की ओर बढ़ रहे थे। उनके हृदय में विदेशी यवनों के प्रति एक भयंकर विद्रोह वात्याचक्र की भाँति उथल-पुथल मचाये था। मधुवनियों का तुमुल जयघोष, रोदन-क्रंदन और यवनों का मदालस तीव्र स्वर अब स्पष्टतः सुनाई पड़ रहा था और परिस्थिति की विडम्बना अब किसी प्रकार भी आँख की ओट नहीं हो सकती थी।

तभी कृष्णदेव और उनके साथियों ने पार्श्व से यवन-वाहिनी पर आक्रमण किया। उनका दुर्दम्य उत्साह लताकुंज-वेष्ठनों को पार कर

'जय कृष्ण', 'हर हर महादेव', 'जय महाकाल' के रणघोष मधुवनियों तक पहुँचे। उन्होंने प्रोत्साहित हो वँधे बलिपशु की भाँति मूक परन्तु घोर चीत्कार किया।

कृष्णदेव और उनके २०-२५ साथियों ने यवनों के खड्ग छीन लिये थे और उनके प्रचंड प्रहार से कितने ही यवन शूरवीर आहत और वध हो चुके थे। इस अप्रत्याशित आक्रमण को झेलना कठिन ही था। अमावस्या के उस अन्धकार में केवल जलती हुई अग्नि-जिह्वाओं के प्रकाश में दैत्यों और मानवों का वह संग्राम भी भूलने की बात नहीं थी। मधुवन के देवता अब भी उसे देख-देख कर प्रसन्न हो रहे थे परन्तु यवन भी साहसी थे। लगभग एक प्रहर तक युद्ध होता रहा और यवनों को मधुवन छोड़कर पीछे हटना पड़ा। मधुवनियों के तीर और कृष्णदेव और उनके साथियों के खड्ग उन्हें क्षण भर भी अवकाश नहीं लेने देते थे। अन्त में उनके साहस ने साथ छोड़ दिया और क्षत्रप पडरौस और उसकी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। सुबह होने में अभी एक प्रहर शेष था कि मधुवन शांत हो गया। दीपाधारों और उल्कामुखियों के प्रकाश में लोग मृतों और आहतों की खोज करने लगे। सारे मधुवन के लता-कुञ्जों और विहार-मण्डपों में जुगनू दौड़ने लगे।

उधर मधुवन में कृष्णदेव और उनके मित्रों का स्वागत हो रहा था। कृष्णदेव को छोड़ कर इतना साहस किसे हो सकता था? कौन व्रजभूमि और सात्वत जाति का इतना प्रेमी था? व्रजकुंजों को यवनों की क्रीड़ा-विलास भूमि बनते देख कर कौन रक्त के आँसू रो दे सकता था। पहले ग्रामपाटी में मृदंग और झाँझों के साथ उनका गोरोचन-तिलक हुआ और फिर गोप-गोपी नृत्य के साथ 'गोप' में उनका प्रवेश हुआ। मृतों और आहतों के रक्षक की अभ्यर्थना कैसे की जाय, यह मधुवनी जानते थे।

कृष्णदेव के मुख पर क्षण भर के लिए निराशा की एक झलक छा गई। परन्तु फिर शीघ्र ही उत्साहित होकर उन्होंने कहा—'हम मधुवन के वासी वीर हैं परन्तु वीर समय देख कर लड़ते हैं। क्या हम अन्य गोपों में नहीं जा सकते? कुछ वीर पुरुष यहाँ रह कर मधुवन की रक्षा करें। शस्त्र हाथ में लेकर वासुदेव की जय बोलते हुए गरुड़-ध्वज के नीचे प्राणों का उत्सर्ग करना ही उनका सर्वोच्च धर्म होगा। अन्य लोग मधुवन छोड़कर चले जायें। अन्य गोप उनका स्वागत करेंगे।'

प्रातः होते होते जब यवन टुकड़ी वहाँ आई तो रात के युद्ध के अवशेष चिह्नों, हताहतों और खाली गृह-कुटी के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं था। सारा ग्राम नरशून्य हो गया था। कुछ वीर गोपों के साथ मधुवन के तृण संकुल वन-कुञ्ज में कृष्णदेव छिपे हुए शत्रु के असावधान होने की बाट देख रहे थे। ग्रामवीथियों पर मृत्यु की शून्यता छाई हुई थी।

नगर में पहुँचकर यवनों ने शून्य गृहों पर अधिकार कर लिया और नगर-रक्षकों और यवन सैनिक के लौह-वर्मधारी विशाल देह प्रेत छाया की भाँति व्रजभूमि में विचरने लगे। लता-कुञ्ज-भवन यवनों के आपान बन गये जहाँ मदविह्वल विदेशी कण्ठों से यावनी माथुरी और अपभ्रंश शौरसेनी के विशृङ्खल वाक्य गूँज उठते। यवनों के साथ कुछ यावनी दाराएँ भी थीं। कुञ्जों की स्फटिक शिलाओं पर उनके गौर वर्ण शरीर विलास से अलसित हो बाहु-उपाधानों के सहारे टिक जाते और गलित स्वर यवन सैनिक उनसे प्रणय की भिक्षा माँगते और उनके अनर्गल प्रलाप और मदविह्वल अट्टहास से महावन का हृदय चूर-चूर हो जाता।

कृष्णदेव यह सब देखते और रोते। घंटों वे निभृत कुञ्जों-भवनों में बैठे हुए वासुदेव के विग्रह के सामने नतशिर हो क्षमा की भीख माँगते।

फुफकाता, निश्वास छोड़ता उत्तर के द्वार की ओर बढ़ने लगा। रात्रि के पिछले पहरों में यह दुःखद समाचार मथुरा के घर-घर में पहुँच गया था और बन्द नगर-द्वार पर जनता उमड़ने लगी थी। द्वार के तोरण पर मङ्गल वाद्य मौन थे। द्वार-रक्षक यवन प्रहरी भयङ्कर दाढ़ियाँ हिला-हिलाकर आगामी भय की सूचना दे रहे थे, परन्तु जनता को नगर-द्वार से हटाने का साहस उन्हें नहीं होता था।

कृष्णदेव के आकाशचुम्बी प्रासाद पर नगर-श्रेष्ठियों और निगम सञ्चालकों की भीड़ थी। पण्य-वीथियाँ जनशून्य हो रही थीं। शरीर पर पीत दुकूल डाले और श्वेत निम्न दुकूल को एड़ियों तक लटकाए विभिन्न प्रकार के वेष्ठन सिर पर बाँध नागरिक और सेट्टक कृष्णदेव और नागराज के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे। तक्षशिला से लौटे हुए कुछ स्नातक भी इस वार्तालाप में भाग ले रहे थे। एक ने कहा—'इन यवनों ने देश को लौहसूत्र में जकड़ लिया। पुष्यमित्र और खारवेल जैसे महासेनापतियों और विचक्षण युद्ध-विशारदों के रहते हुए मथुरा का यह दैन्य समझ में नहीं आता।'

दूसरे ने कहा—'भाई रतनसेन, मगध का राज्य पुष्यमित्र के बल पर ही तो टिका है। सम्राट् बृहस्पतिमित्र स्त्रैण और दुर्बल-प्रतिज्ञ हैं। सम्राट शतधन्वा के समय से ही कुसुमपुरी विलास और षड्यन्त्रों की नगरी हो गई है।'

'हाँ, भाई'—रत्नसेन ने उत्तर दिया—'मौर्यों का खड्ग देश की रक्षा के लिए असमर्थ है। पौरवों के हाथ में शक्ति नहीं है। शौल्किक से लेकर महादंडनायक और गोप्ता तक चाटुकारिता और अनाचार को प्रश्रय दे रहे हैं।'

स्नातक श्वेतपाद ने उसकी बात काटते हुए कहा—'मैंने तक्षशिला में शिक्षा पाई है, मथुरा। मैं मद्र का नागरिक हूँ। वहाँ अब भी छोटा-मोटा गण-राज्य है। मैं समझता हूँ, आपके राजतंत्र इसीलिए दुर्बल हैं

कि उनमें शक्ति रंचमात्र भी नहीं है। प्राचीन भारत में प्रत्येक जनपद की शक्ति जानपदों (नागरिक) में केन्द्रित थी। प्रत्येक जन जनपद को अपनी बहुमूल्य वस्तु समझता था। अब दूर के एक अधिष्ठान से शतशः अग्रहारों का शासन होता है और इसलिए राजप्रबंध में अनेक छिद्र उत्पन्न हो गये हैं।

रत्नसेन ने उनका समर्थन किया—'तुम ठीक कहते हो, स्नातक श्वेतपाद ! पश्चिम के जनराष्ट्रों ने ही अलक्षेन्द्र के बल को चूर्ण किया था। मालव और क्षुल्लक ने शतद्रु के तट पर यवन सैनिकों को रोक दिया। पुरु जिसे नहीं कर सके, वह मालवों और क्षुल्लकों ने कर दिखाया। पौरवों की शक्ति एक व्यक्ति तक केन्द्रित थी। मालव और क्षुल्लक गणराज्य थे। वहाँ प्रत्येक जन खड्गधारी बन गया था। मैं ठीक कहता हूँ न, भद्र मोरध्वज !'

उसने अपने साथी की ओर देखा।

मोरध्वज ने कहा—'तुम ठीक कहते हो, रत्नसेन। पौरव प्रतापी हैं, तो राष्ट्र जीवित है। राजा और राजुल्ले पौरवों को शक्तिहीन करके ही ऐश्वर्य का उपभोग कर सकते हैं। अतः अनेक प्रकार से वह पौरवों को निर्जीव कर देते हैं। उनके उपरिक और आयुक्तक जनसत्ता के शव पर ही जीते हैं।'

स्नातक बोला—'परन्तु आज की परिस्थिति में छोटे-छोटे गणराज्य भी अशक्त हैं। या तो बड़े-बड़े गणराज्य बनें, या छोटे-छोटे गणराज्य परस्पर संगठित होकर ऐसा तन्त्र बनायें जो एकसत्तात्मक राज्यों से टक्कर ले सके। तभी कल्याण है। कठिनाई यही है कि एक विराट्, व्यापक, सङ्गठित भारत राष्ट्र की कल्पना ने मौर्य साम्राज्य को जन्म दिया है। अब इस साम्राज्य-भावना का नाश नहीं हो सकता। मगध साम्राज्य के बाद चाहे पुष्यमित्र हो, या यज्ञसेन या खारवेल, किसी एक सेना-चतुर व्यक्ति की आवश्यकता है। परन्तु यदि गण-भावना को जीता

रखना है तो एक व्यापक गणराज्य मण्डल की उसी प्रकार कल्पना करनी होगी जिस प्रकार साम्राज्य की।'

रत्नसेन ने कहा—'छोटे-छोटे गणों को देखते हुए यह असंभव है।'

'हाँ, असंभव जान पड़ता है, परन्तु असम्भव हो नहीं जाता। साम्राज्य भी एक दिन स्वप्न था। परन्तु चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने एक विराट साम्राज्य की स्थापना कर दी। इसी तरह गणराज का आज का स्वप्न कल सच भी हो सकता है। हाँ, इसके लिए प्रयत्न करना होगा।'

रत्नसेन मुस्कराया। उसने कहा—'यह होता नहीं दिखलाई पड़ता। भारत की भूमि साम्राज्यों के लिए ही अधिक उर्वर जान पड़ती है। खारवेल जैन-धर्म का अनुयायी होता हुआ भी एक विराट कलिंग-साम्राज्य के लिए प्रयत्न कर रहा है, उधर वैष्णव धर्म का झण्डा लेकर पुष्यमित्र मौर्यों के प्रति विद्रोह उठाना चाहते हैं। परन्तु उनका ध्येय भी वही साम्राज्य स्थापन है।'

श्वेतपाद ने अट्टहास किया। बोला—'साम्राज्य-लिप्सु अजातशत्रु और अशोक बौद्ध धर्मचक्र घुमाते हुए गण-राष्ट्रों की हिंसा कर सकते हैं, तो फिर जैन और वैष्णव ही क्यों अहिंसक बनें?'

मोरध्वज ने उत्तेजित होकर कहा—यह धर्म-विशेष की बात नहीं है। यह मनुष्य की मूल प्रवृत्ति की बात है।'

'तब यही न, कि धर्म मनुष्य की मूल प्रवृत्ति को नहीं बदल सका।'

'मैं इसे मानता हूँ कि धर्म मनुष्य को बदल नहीं सका, परन्तु क्या उसका प्रयत्न ही उसे हमारी श्रद्धा की वस्तु नहीं बनाता?'

उसी समय यावनी तुरही का शब्द सुनाई पड़ा और अश्वारोही यवन सैनिकों के गुल्म राजमार्ग की ओर बढ़ते दिखाई पड़े। नगर के बाहर यवन-स्कन्धावार था। ये सैनिक वहीं से आये थे। कदाचित् नगर-रक्षा का भार इन्हें सौंपा जाने वाला था। मथुरा के क्षत्रप को अंतःविद्रोह की आशंका होने लगी थी। आगे-आगे भटाश्वपति भी थे। कदाचित्

यव-भट भी सेना के साथ चल रहे थे।

आकाश पर बादल घिर आये थे। प्रदोष के मेघों की गम्भीर श्यामल छाया मथुरा के हर्म्यों, प्रासादों और प्रमोदवनों को भयानक और रुक्ष बना रही थी। अलिंदों और गवाक्षों में मथुरा की अनिंद्य गोप नारियाँ उत्सुकता से राजपथों की ओर देख रही थीं। धुँधले प्रकाश में कभी-कभी उनके अंगुलीयकों के रत्न चमक उठते। उनके कूर्पासक झलमला जाते। कभी-कभी मुख्यालिंद पर कोई तरुण माथुरी दिखाई पड़ जाती। प्रसाधकों द्वारा यत्न के साथ बनाई हुई विशेषक (कपोलों पर सुगन्धित चित्रकारी) के ऊपर श्यामल मुक्ताजाल और रत्नजाल आकाश की उलझी हुई मेघमाला से होड़ करते। उनकी माणिक-रसना की स्वर्ण-घंटिकाएँ बज उठतीं।

त्रिचीवर धारण किये मथुरा-विहार का एक श्रमण उस ओर से जा रहा था। उसके भिक्षापात्र में थोड़े से कहापन पड़े थे जिन्हें लेकर वह व्रज-विहार लौट रहा था। यहाँ भीड़ देखकर उत्सुकतावश खड़ा हो गया। मधुवन में यवनों ने आग लगा दी, यह सुनकर उसे थोड़ा हर्ष भी हुआ। उस समय बौद्ध श्रमण यवनों को धर्म-रक्षक समझते थे। वैष्णव धर्म के उत्थान को देखकर उन्हें ईर्ष्या होती। वे यवनों से मिल कर इस नये धर्म की बाढ़ रोकना चाहते थे।

'क्या है, बन्धु?'—उसने श्वेतपाद से पूछा—'तुम स्नातक जान पड़ते हो।'

'मैं तक्षशिला का स्नातक हूँ।'

'ये जन किस बात की चर्चा करते हैं।'

'क्या तुमने सुना नहीं, श्रमण! यवनों का अत्याचार बढ़ता जा रहा है! मधुवन हम वैष्णवों का प्राण है। उसे यवनों ने जला दिया है।'

श्रमण ने किंचित मुस्करा कर कहा—'नाशवान् वस्तुओं के लिए दुःख करना पाप है।

मोरध्वज बोला—'भिक्षुओं का राजनीति में भाग लेना पाप नहीं है ? क्यों श्रमण, यह बौद्ध धर्मामात्य क्या है ? धर्ममहामात्र का राजदण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं क्या ?'

श्रमण ने कहा—'धर्ममहामात्र के लिए सङ्घ उत्तरदायी नहीं है। भगवान् तथागत ने बुद्ध, धर्म और सङ्घ के त्रिरत्नों को स्वीकार किया है। बौद्ध राजधर्म को नहीं मानते। हमारे बौद्ध विहार केवल धर्मचक्र से ही शासित हो सकते हैं। भिक्षु उपान्त में रहकर धर्म के नियमों का पालन करे, धर्म ही उसके लिये सत्य हो, यही भगवान् का आदेश है।'

ब्रह्मचारी ने उत्साहित होकर कहा—'परन्तु बौद्ध विहारों से विदेशी यवनों को प्रश्रय मिल रहा है। कनिष्क और मिलिन्द जैसे यवनों के भुलावे में पड़कर बौद्ध सङ्घारामों ने धर्मचक्र के स्थान में राजनीति-चक्र को अपने हाथ में ले लिया है। थेर-थेरियाँ चर बनी हुई हैं। चैत्यों में गुप्त परामर्श चल रहे हैं। पिंगला थेरियाँ यवन क्षत्रपों पर डोरे डाल रही हैं। यही तुम्हारा महायान मार्ग है!'

भिक्षु ने अनुभव किया, उसका कण्ठावरोध हो रहा है। अब वह चारों तरफ घिर गया था। तर्क-वितर्क से सङ्घर्ष बढ़ता। उसने कहा—'मुझे जाने दो। तुम सङ्घ का विरोध करते हो। तुम्हारी पापवार्त्ता सुनना समाह्वय (जुए) में भाग लेने के समान है। मुझे एक प्रव्रज्या में जाना है। मुझे जाने दो।'

परन्तु भीड़ उत्तेजित थी। बौद्ध विहार के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की दूषित सूचनाएँ मिल रही थीं। क्षत्रप और मथुरा के विहारों और भिक्षु-सङ्घ के नायक महास्थविर अर्हत धर्मपालित में प्रगाढ़ मित्रता और परस्पर आवागमन की बात जनप्रसिद्धि पा चुकी थी। मधुवन के समाचारों ने जनता को और भी विक्षुब्ध कर दिया था।

भीड़ में एक क्षत्रिय ने आगे बढ़कर कहा—'भिक्षु श्रमण, तुम्हारे धर्म में त्रिरत्न कौन है ?

भिक्षु कुण्ठित।

उसने आगे बढ़कर उसके त्रिचीवर को पकड़ते हुए कहा—त्रि[illegible]
में, भाइयों, प्रमुख रत्न है स्त्रीरत्न। सङ्घाराम में पिंगला, स्वर्णके[illegible]
अप्सराओं की कमी नहीं है।

व्यङ्ग समझकर उपस्थित जनसमूह ने तीव्र अट्टहास किया। ए[illegible]
दूसरे भद्र पुरुष ने कहा—'भाइयो, जब सङ्घ बुरा नहीं तो लोकायत[illegible]
क्यों लांछित हुए। बौद्ध पञ्चमकारों को हेय नहीं समझते और लोकायत[illegible]
अपने गुरु चार्वाक की शिक्षाओं का पालन करते हुए इन्हीं (मकारों)
का तो सेवन करते हैं। वह लांछित क्यों हुए ?

'विहारों में कापिशायिनी की नदियाँ बह रही हैं, मित्रों, नीवी-मोचन
ही इन अर्हतों का निर्वाण-धर्म है।'

भिक्षु ने विनय-पूर्वक कहा—'बन्धुओं, मुझे जाने दो। धर्म के विरुद्ध
बात सुनना पाप है।'

रत्नसेन ने उत्तेजित भीड़ को शांत करते हुए कहा—'भाइयो, श्रनरा
को जाने दो। उसकी पिंगला उसकी प्रतीक्षा करती होगी।'

फिर भीषण अट्टहास।

सहसा फिर तुरीयनाद हुआ और फ़ौलादी शिरस्त्राण [illegible]
हुए यवन सैनिक उधर से निकले। भीड़ शान्त हो गई। [illegible]
से उनके पीछे जाने लगे। अवकाश पाकर भिक्षु [illegible]
[illegible]गया।

धीरे-धीरे मथुरा में विद्रोह के चिह्न प्रगट होने [illegible]
[illegible]सैनिकों का नगरवीथियों में इक्का-दुक्का निकलना [illegible]
[illegible]से सङ्कट बढ़ता गया, साधारण जन [illegible]
[illegible]स्थाविर ने परिस्थिति की गंभीरता का अनुमान [illegible]
[illegible] विशाल ताम्रपट दिन-रात बन्द रहने [illegible]
[illegible]द्वार संकेत करने पर खुल जाना।

१२

साम्राज्य पर विद्रोह के बादल उमड़ रहे थे। पूर्व में खारवेल, दक्षिण में यज्ञसेन और पश्चिम में दिमित्र की लोलुप दृष्टि मगध पर लगी थी; परन्तु कुसुमपुर में कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। पण्यों में उसी प्रकार बहुमूल वस्तुओं का क्रय-विक्रय चलता। हाटों और वीथियों में उसी प्रकार की व्यस्तता की छाप थी। सेट्ठियों, राजपुरुषों और संभ्रांत नागरिकों के भवनों से उसी तरह पुस्कर (मृदंग) की ध्वनि सुनाई पड़ती और ताल-स्वर रहित मदविह्वल चरणों से अलक्तक की स्वर्णाभा बिखेरते हुए स्वर्ण नूपुर उसी तरह बज उठते। राजवीथियों में स्थान-स्थान पर पुष्पलावी (माली) सद्यः विकसित मंदार और चम्पा की मालाएँ लिए सुन्दर गीतों से राजपुरुषों को अपनी ओर आकर्षित करते। प्रमदवनों और उपान्त के प्रमोद-काननों में मदिरा के चषक दिवारात्रि ढला करते।

परन्तु सम्राट् बृहस्पतिमित्र चाहे विषय-रस में डूब गए हों, पुष्यमित्र की आँखें मगध साम्राज्य को घेर कर उमड़ते हुए प्रलय-मेघों पर ही लगी थीं। पाटलीपुत्र की रक्षा के लिए जो किया जा सकता था। वह कर लिया गया था। चतुष्कों (बुर्जों) पर धनुर्धारी मागध दिन-रात खड़े रहते। प्राचीरों के भिन्न-भिन्न भाग भिन्न-भिन्न चम्पों के सैनिकों के सुपुर्द थे। मगध के चर विदिशा, पंचनद, कलिंग और विदर्भ सभी देशों में नियुक्त किये गये। सम्राट् को इन सब का पता नहीं था। सेनापति पुष्यमित्र की सतर्क-दृष्टि ने ऐसा कर दिया था कि शासन में कहीं भी रंचमात्र छिद्र न रहे। वक्षु प्रदेश तक में उसके चर और भट नियुक्त थे। देश के भिन्न-भिन्न भाग में कायस्थों (लेखकों) का एक जाल बिछ

गया था। कहीं भी कुछ हो, सप्ताह भर के भीतर पुष्यमित्र को सूचना मिल जाती। रात के पहले पहर में प्रथम कायस्थ उन्हें समाचार सुनाता और चरों को शास्ति भेजता। तलवाटक (पटवारी) से गोप्ता और उपरिक तक पुष्यमित्र के अनुशासन को मानते। सम्राट् शतधन्वा के समय से ही ऐसी व्यवस्था थी। सेनापति का पद सम्राट् पद से भी महत्वपूर्ण हो गया था।

पण्यवीथी में उसी तरह चहल-पहल थी। दिन का तीसरा पहर ढल रहा था। श्रेष्ठी धनदत्त का पण्य रत्नों और मानिकों की छटा से जगमगा रहा था। धनदत्त अर्थ-बलाधिकृत का मित्र था। दोनों बैठे हुए बातचीत कर रहे थे। धनदत्त ने कहा—निष्क का दर गिर गया है। अब व्यवसाय में उतना लाभ नहीं रहा।

अर्थ-बलाधिकृत ने किंचित मुस्करा कर, उत्तरीय कंधे पर डालते हुए कहा— मगध की उतनी साख नहीं रही। लोग अनिश्चित हैं। यही कारण है।'

ऊँची साँस लेते हुए श्रेष्ठी धनदत्त बोला—'कुलिक नहीं मिलते। तारहार यों ही पड़ा सड़ता है। दण्डपाशिक के भय से भी लोग काम नहीं करते। मगध में जितने आलसी हैं, सब कुक्कुटाराम के मुंडक बन गए हैं। जब भिक्षापात्र हाथ में लेकर त्रिचीवर धारण करने भर से भोजन की समस्या हल हो जाती है, तो कौन काम करे?

अर्थ-बलाधिकृत गंभीर हो गया। उसने कहा—इधर प्रसर (राज्य-विस्तार) कम हो गया। शतधन्वा के समय में धर्ममहामात्र और अग्रहारिक (दानाध्यक्ष) ने देश को छोटी-छोटी भुक्तियों (जागीरों) में बाँट दिया है। कुल्याएँ जलशून्य हैं। अंकों (मुद्राओं) का मूल्य अस्थिर है। जब राज के सारे विभाग धर्मासन से शासित हो रहे हों, जब सेतु (सिंचाई) का अच्छा प्रबन्ध न होने से उर्वरा भूमि भी नष्ट हो गई हो, तब राजकोष कब तक भरा रह सकता है।'

धनदत्त ने कहा—'परिस्थिति विषम अवश्य है। कुसुमपुर के विलास ने राजकोष खाली कर दिया है। मौर्य-सम्राट् धर्ममहामात्र और महा-संघस्थविर के इशारों पर चलते हैं। सार्थवाह निःशंक होकर यात्राएँ नहीं करते। अब जनता इन मुण्डकों की पोपलीला से परित्राण चाहती है। सुना है, मथुरा में फिर वासुदेव धर्म की पताका लहराने लगी है। गानर्द के ऋषि पतंजलि यज्ञों का प्रचार कर रहे हैं।

'हाँ', अर्थ-बलाधिकृत ने अँगड़ाई लेते हुए कहा—'अब बौद्धों का धर्म-चक्र चलता नहीं दिखता।'

'चले कैसे'—धनदत्त आँखों में मुस्करा कर कहने लगा—'आनन्द ने जब भिक्षुणियों को दीक्षित करने के लिए कहा तो महाप्राण गौतम ने स्पष्ट ही उत्तर दिया था, तब बुद्ध का धर्म ५०० वर्ष से अधिक नहीं चलेगा। विहार थेर-थेरियों के विहारस्थल बन गये हैं। चंक्रम संकेत-स्थल है। स्वाध्याय अब कौन करता है। त्रिपिटक अब उपेक्षित है।

तभी कुछ राजपुरुष अश्वों पर चढ़े राजपथ में दिखलाई पड़े। उनके सामने प्रतिनर्तक उसका नाम, पद इत्यादि बोलते हुए आगे बढ़ रहे थे। आरोही राजपुरुषों ने अंशुक के अन्तरवासक धारण किये थे, जो आजानु लटक रहे थे। मानिक-खचित स्वर्णपदों को झल-मलाते हुए अश्वारोही अग्रश्रेष्ठी धनदत्त के पण्य की ओर ही आ रहे थे। अन्तरायण-पण्य में रत्नभंडार के लिए धनदत्त की प्रसिद्धि देश-व्यापी थी।

धनदत्त ने नागदंत की स्वर्णखचित पीठिका पर राजपुरुषों को आसन दिया। रत्नमंजूषा सामने रखते हुए उसने कहा—'आय, किस देश का किस श्रेणी का रत्न चाहते हैं? अग्रश्रेष्ठि धनदत्त का पण्य सिंहल, स्वर्णद्वीप, राक्षस द्वीप, वालि, यव, सुमात्रा सभी दूर देशों में है।

एक राजपुरुष बोला—हमें ऐसे उज्जल वर्ण के रत्न चाहिये जो

मगध की जनपद कल्याणी देवी चारुदत्ता की अभ्यर्थना में उपस्थित किये जा सकें।'

एक स्वर्ण-मंजूषा में उज्ज्वल वर्ण के हीरक खोलकर दिखाते हुए धनदत्त बोला—'उज्जल वर्ण के रत्न मागधों को पसन्द नहीं आते। यहाँ विलासी राजपुरुष ही रक्तवर्ण या चम्पकवर्ण के रत्न का क्रय करते हैं।'

उसके अर्थ को न समझ सकने के कारण सब ने आश्चर्य किया।

धनदत्त ने पूछा—'क्या कलिंगपति खारवेल कोई नई जिनमूर्ति बनवा रहे हैं।'

'कलिंगपति चक्रवर्ती खारवेल!'—युवक का हाथ पार्श्व में लटकते खड्ग पर पड़ा—'कलिंगाधिपति ने पार्श्वनाथ पर्वत पर एक नए जैन मन्दिर की स्थापना की है। वहाँ विद्रुम-प्रवाल का एक बड़ा भव्य सिंहासन बनाया गया है। उसी के लिए मुझे रत्न चाहिये।'

एक राजपुरुष ने व्यंग से कहा—'कलिंग की जिन-मूर्ति सुगांगेय प्रासाद की शोभा बढ़ा रही है। इसी से कलिंगपति चक्रवर्ती ने मगध के सामने भिक्षापात्र लेकर उपस्थित होना अच्छा नहीं समझा। वे नई मूर्ति गढ़वा रहे हैं।'

युवक की ताम्रवर्ण आँखें अग्निहोत्र की नई शिखा के समान जल उठीं। उसने कड़क कर कहा—'जान पड़ता है, मागध अभद्र भी हैं।'

तीनों राजपुत्र स्तम्भित रह गये। ज्येष्ठ राजपुत्र ने खड्ग के मणिबंध पर हाथ धरते हुए कठोर स्वर में कहा—'यह कलिंग नहीं है, विदेशी, यहाँ मौर्य सम्राट् बृहस्पतिमित्र का शासन है।'

धनदत्त झगड़ा करना नहीं चाहता। उसकी वणिक-प्रवृत्ति ने उसे शांत कर दिया है। उसने कहा—'कलिंग के नागरिक, मागध संसार में सबसे सुसंस्कृत पुरुष होते हैं। तुम्हारे कलिंगपति खारवेल निःसंशय शूरवीर हैं। उनकी जिनमूर्ति के अलंकार मैं दूँगा। अभी तो तुम्हें सिंहासन के लिए रत्न ही चाहिए।'

तरुण कलिंग के नागरिक ने उठते हुए कहा—'देखता हूँ, तुम्हें समय नहीं है। मैं फिर आऊँगा। इन राजपुत्रों को क्रय में विलम्ब होता है। तब तक मैं सुगांगेय प्रासाद देख आऊँ। वह मुड़ने लगा। परन्तु मुड़ने से पहले वह कुछ ऊँचे स्वर में कह गया—'मुझे केवल सिंहासन के लिए रत्न चाहिए। सिंहासन खाली पड़ा रहेगा। कलिंग की जिनमूर्ति मगध के सुगांगेय प्रासाद में अधिक दिनों नहीं रह सकती।' उसकी आँखों में उल्काएँ जलने लगी थीं और जब वह तेजी से उतर कर पण्यवीथी को पार कर गया, तब राज्यपुरुषों और धनदत्त ने क्रोध और क्षोभ के साथ एक दूसरे को देखा। उसी समय चार दीपदंडधारी प्रकोष्ठ में आ गये और धनदत्त राजपुरुषों को रत्न दिखाने लगा।

१३

कुसुमपुर के अवरोध में तरुण सम्राट् बृहस्पतिमित्र की विलास-क्रीड़ा और उनका मदिरापान अप्रतिहत गति से चल रहा था। महिषी रेवा चिंता की दृष्टि से सब देखतीं, सब सुनतीं; परन्तु विलास के नये-नये आयोजन प्रतिदिन स्वतः जुट जाते और सम्राट् को रोक रखना असम्भव था। राजधानी में प्रतिदिन भयंकर समाचार आते, परन्तु सम्राट् उन्हें उच्छृङ्खल अट्टहास और मदिरापान में डुबा देते। साम्राज्य की परिस्थिति प्रतिदिन विषम होती जाती, परन्तु सुगांगेय प्रासाद में बराबर आमोद-प्रमोद की कल्लोलिनी बहती। विलास से शिथिल, रात्रि-अभिसार से शिथिल, सुगांगेय प्रासाद को यह भी नहीं ज्ञात होता, दिन कब हुआ, रात कब हुई। स्वयं सम्राट् के मन पर चक्रवर्ती खारवेल का चाहे जितना आतंक हो, वह उसे 'मेघवाहन' कहकर उसकी हँसी

उड़ाते। 'मेघवाहन' चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल के प्रशंसित हाथी का नाम था। पार्श्वनाथ गिरि पर गगनचुम्बी विशाल पर्वत-प्रासाद में चक्रवर्ती कलिंगाधिपति सम्राट् खारवेल निरन्तर युद्ध-परिषदों से घिरे रहते। जिस कलिंग की राज्य-लक्ष्मी जिन-प्रतिमा को सम्राट् अशोक कलिंग-विजय के चिह्नस्वरूप पाटलीपुत्र ले आये थे, वह किस तरह फिर कलिंग आ सकेगी, यही उनकी चिंता का जाग्रत विषय था।

शतधन्वा के समय में ही बृहस्पतिमित्र नारी और मदिरा में डूबने लगे थे, परतु पिता के रहते प्रमोदवन में उतनी सुविधाएँ नहीं हो सकती थीं। अब वह स्वतंत्र थे। इन उच्छृङ्खलताओं के कारण कभी-कभी महिषी रेवा उनसे रूठ जाती, ऐसा कलह छिड़ता कि साम्राज्य से दूर-सुदूर भागों में उसकी चर्चा होने लगती, फिर जीवन-नद प्रतिदिन के समतल पर बहने लगता। यह नहीं कि इतने विलास के उपकरण होने पर सम्राट् ने महाकाल मंदिर की नर्तकी इरावती को भुला दिया हो। उन्होंने मालवा के महादंडनायक को चरों द्वारा आदेश दे दिया था कि इरावती को शीघ्र ही मगध सम्राट् के अवरोध में भेजा जाय, परन्तु जनता में इसकी कुछ चर्चा न हो पाये। इरावती का छाया चित्र उनके मानव नेत्रों के सामने नाचता हुआ उन्हें इतना उद्विग्न बनाये रखता कि महिषी को कभी-कभी बड़ी चिंता हो जाती।

परन्तु इसी बीच में एक ऐसी घटना हो गई जिसने सम्राट् के लिए नई उलझन खड़ी कर दी और कुछ दिन तक इरावती उन्हें भूल गई।

सुगांगेय-प्रासाद के विस्तृत प्रमोद-कानन में सम्राट् बृहस्पतिमित्र प्रातः-पवन सेवन कर रहे थे। आज उनका चित्त विशेष उद्विग्न था। महिषी से किसी विषय में कहा-सुनी हो गई था। एक लताकुंज के द्वार पर स्फटिक की शिला पर मदिरा के पात्र रखे थे। उनको उपस्थित करने के बाद भृत्यों को 'एकान्त' का आदेश हुआ था।

अचानक एक कुंज में नूपुरों की झंकार हुई और मुड़कर सम्राट् ने

देखा सौन्दर्य का एक अतिन्द्रिय जगत्। आँखों में विषाद की रेखाएँ। स्वर्ण चम्पक वर्ण। अधरों पर ताम्बूल की रक्ताभा और श्याम-वेणी के ऊपर काशी का स्वर्ण मयूर खचित दुकूल। अवरोध में इतना सौन्दर्य कहाँ छिपा था !

सुन्दरी बढ़कर सम्राट् तक आ गई। पृथ्वी पर झुक कर उसने सम्राट् की अभ्यर्थना की। फिर गद्गद् कंठ से बोली—मगध सम्राट् की दुहाई, मैं शरण चाहती हूँ।

यह सुन्दर तरुणी किस भय से शरण चाहती है, यह पूछना भूलकर सम्राट् उसके अश्रुपूर्ण नेत्रों को देखते रह गये।

कुछ स्वस्थ होकर उन्होंने पूछा—'तुम कौन हो, तरुणी ? तुम कुसुमपुर के अंतःपुर में शस्त्रधारी सैनिकों के बीच में कैसे आ गईं ?'

युवती ने रुद्ध कण्ठ से कहा—'देव, यह सब नक्षत्रों के खेल हैं। इसी से नन्दकुल की राजकुमारी को यहाँ आना पड़ा है।'

सम्राट् को थोड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—तुम नन्दकुल की राजकुमारी कैसे हुईं ? मैं तुम्हारे शब्दों पर विश्वास कैसे करूँ ? तुम्हारा राजपुत्री होना कैसे सिद्ध हो ? यदि तुम नन्दवंश की राजपुत्री हो, तो हमारी मित्र कैसे हो ?'

युवती ने मुस्कराते हुए कहा—'ओह ! मैं स्वयं नहीं जानती कि यहाँ क्या करना है। सब कोई मुझे नन्दवंश की राजकुमारी कहते हैं। क्या मैं राजकुमारी नहीं लगती ?'

अब की बार सम्राट् को हँसी आ गई। हास-परिहास उनके रसिक स्वभाव का एक अंग था। उन्होंने हँसते हुए कहा—'तो तुम अवश्य राजकुमारी बनोगी। हम तुम्हें कुसुमपुर के अंतःपुर की पट्टमहिषी बनायेंगे।'

उनकी उँगलियाँ युवती के ग्रीवामूल पर पड़ीं जहाँ पन्ना का अंगद झिलमिला रहा था। और वे धीरे-धीरे कड़ी होने लगीं।

युवती लाज और क्षोभ से गड़ी जा रही थी। उसने कहा—'मैं सम्राट् की प्रजा हूँ। इसी से सम्राट् के सामने एक बात कहने का साहस करती हूँ।'

सम्राट् ने उत्सुकता से उसकी ओर देखा। युवती बोली—'प्रजा में असन्तोष है!'

'क्यों?'

'क्यों मैं नहीं जानती। मौर्य राजपुरुषों के अत्याचारों की कहानियाँ भारत के लिए सेनापति पुष्यमित्र और सम्राट् वृहस्पतिमित्र से अधिक सत्य हैं। मैं जानना चाहती हूँ, क्या पुष्यमित्र मगध के सम्राट् हैं!'

सम्राट् की त्यौरी में बल पड़ गये। स्पष्ट ही विषय उन्हें अप्रिय था परन्तु वे इस सौन्दर्य-पुत्तलिका का हृदय दुखाना ठीक नहीं समझते थे। उन्होंने कहा—'सुन्दरी, सुन्दर युवती से अधिक शक्तिमान कोई भी नहीं है, पुष्यमित्र भी नहीं, अग्निमित्र भी नहीं। तुम्हारी आँखों में झंझा के चिह्न हैं और तुम्हारा यौवन आँधी से खेल रहा है। किन सुन्दर अभिशापों की छाया लेकर तुम यहाँ आई हो? बोलो, सुन्दरी। व्यर्थ के तर्क-वितर्क में यह सोने का प्रभात बीता जा रहा है।'

उन्होंने शिलामुख के पात्र लेकर थोड़ा आसव ढाला। उसके आतुर अधर युवती पर झुक गये।

युवती बाहुपाश से छूट कर दूर जा खड़ी हुई। उसने कहा—'मैं नन्दवंश की राजकन्या हूँ। कालिन्दी मेरा नाम है। पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने मेरा अपमान किया है। मैं उसके पिता के पास पहुँची थी, परन्तु व्यवहारासन पर बैठकर भी वे न्याय न कर सके। इसीलिए अबला होते हुए भी मैं मगध सम्राट् के पास उपस्थित हुई। परन्तु यहाँ सम्राट् स्वयं लोलुपता के लोहपाश में बंदी हैं।'

उसने सम्राट् की ओर मन्द-स्मित के साथ कटाक्ष किया।

सम्राट् की शिरा-शिरा में विद्युत् प्रवाहित होने लगी। उन्होंने

हा—'अग्नि यहाँ कहाँ है, सुन्दरी ! सुनूँ तो। उसने तुम्हारा क्या पमान किया ? अग्निमित्र तो उज्जयिनी में है ?'

युवती ने हलका अट्टहास किया।

'सम्राट् कुसुमपुर के अन्तःपुर के बाहर के संसार को बहुत नहीं नते'—उसने कहा—'क्या मैं समझूँ सम्राट् को पुष्यमित्र ने यह भी हीं बताया कि अग्निमित्र कुसुमपुर में ही उपस्थित है ?'

'कुसुमपुर में !' आश्चर्य से बृहस्पतिमित्र की आँखें विस्फारित हो ईं। युवती केवल मुस्करा रही थी।

'तुम क्या चाहती हो ?'

'न्याय !'

'अर्थात् ?'

'अग्निमित्र दंडित हों।'

बृहस्पतिमित्र ने उसका हाथ पकड़ लिया। एक शिला की ओर ले जाते हुए उन्होंने कहा—'मगध की किन्नरी, अग्निमित्र का अपराध सुने बिना मैं उसे कैसे दण्डित कर सकता हूँ ? स्वयं तुम कम अपराधी नहीं हो। कुसुमपुर के राजप्रासाद में, सब की आँख बचा कर, सम्राट् तक पहुँचने का तुम्हारा अविनीत साहस क्या दण्डनीय नहीं है ? बोलो, सुन्दरी !'

सम्राट् की बाहों में बँधी युवती काँपने लगी।

'मैं अपराधी हूँ। मैं दण्डनीय हूँ। सम्राट् क्षमा करें।' उसने भय का नाट्य किया।

बृहस्पतिमित्र ने उसे भुजाओं में और दृढ़ कसते हुए अट्टहास किया। 'तुम अवश्य दण्डनीय हो, तुम्हें दण्ड मिलेगा।'

और जब तक युवती उसके बाहुपाश से छूटे-छूटे, तब तक उसने उसके ताम्बूलराजित अधरों को चुम्बित कर दिया।

उसी समय मंत्रणागृह का स्वर्ण घंट गम्भीर ध्वनि से बजने लगा। कदाचित् पुष्यमित्र सम्राट् की प्रतीक्षा में थक गए थे।

युवती उनकी बाँहों से छूट कर बाहर निकल गई। उसने कहा—'मंत्रणागृह में प्रधान मन्त्री कदाचित् आपसे मिलना चाहते हैं। आप उनसे कह दें उन्होंने कालिन्दी के साथ न्याय नहीं किया है और अब वह न्याय-दण्ड को अपने हाथों में ले रही है।'

वह कुंजों में घुस गई।

मौलसिरी के एक बड़े पेड़ के नीचे खड़े हुए उसने विचार और भावुकता में उलझे हुए बृहस्पतिमित्र को देखा। मंत्रणागृह का घण्टा बराबर बज रहा था।

सम्राट् कुंजों की ओर चले। युवती पीछे हटने लगी। उसने कहा—'मैं फिर सेवा में उपस्थित हो सकती हूँ। इस समय आप विचार-श्रांत हैं।'

पीछे के एक चम्पाकुञ्ज में घुस कर वह अदृश्य हो गई। आश्चर्य से सम्राट् उस ओर देखते रहे। उनके मुख से केवल एक शब्द निकला—'अद्भुत!' फिर वे धीरे-धीरे प्रमदवन से निकल कर मन्त्रणा गृह की ओर चले। कालिन्दी ने उनके मन में एक नई उलझन उत्पन्न कर दी थी। यह कालिन्दी कौन है, नन्दवंश की राजकुमारी से उसका क्या अभिप्राय है, पुष्यमित्र और अग्निमित्र से इस सुन्दरी का क्या सम्बन्ध है? यही सब विचार उनके हृदय को मथ रहे थे।

उज्जयिनी-दण्डनायक ने उन्हें लिखा था, इरावती शीघ्र ही उज्जयिनी से सम्राट् की सेवा में भेज दी जायगी। परन्तु अभी मालवों को क्रुद्ध करना अच्छा नहीं होगा। कर्कोटक के युद्ध में मालव सेना के बल पर ही मगध विजयी हो सका है। मालव महाकाल के मन्दिर के तरुण ब्रह्मचारी के इंगित पर नाचते हैं और यह तरुण ब्रह्मचारी इरावती को सौंपने को तैयार नहीं होगा। जो हो, चतुर्मास बीतने पर इरावती कुसुमपुर

के अवरोध की शोभा बढ़ाये। अभी इरावती की समस्या सुलझी नहीं थी कि कालिन्दी एक समस्या बन कर सामने आ गई।

१४

कुसुमपुर का सुगांगेय प्रासाद और उसका प्रमदवन महानन्द के समय से ही विलास-क्रीड़ा का क्षेत्र बना हुआ था। शतधन्वा ने उसे और भी सुन्दर बना दिया था। स्थान-स्थान पर कृत्रिम स्फटिक-शैल से झरते हुए श्वेत मर्मर के सरोवर जिनमें वर्ष भर कमल खिले रहते। साम्राज्य के भिन्न-भिन्न भागों और पार्श्व एवं यवन-देश के फूलों से भरी हुई क्यारियाँ योजनों चली गई थीं। प्रमदवन के बीच में एक सुन्दर चित्रसारी थी। सम्राट् शतधन्वा ने उसे स्वयं बनवाया था। ग्रीष्म के तपते दिनों में सम्राट्, सम्राज्ञी, भृत्य यहीं चले आते और चुनार वृक्षों या अशोक की छाया में बैठकर दासियों द्वारा उपस्थित किये रंगपात्रों से रंग लेकर चित्र बनाते। जब चित्र बन जाता तो सम्राट् चित्रकला-विशारदों को बुलाते। 'मैं भविष्य में अवश्य सोचूँगा', यह कह कर अपनी भूलों का प्रतिकार करने की बात कहते। चित्र चित्रसारी में लगा दिया जाता। और सम्राट् उसमें हेर-फेर करने की बात भूल जाते और चित्र अधूरा ही रह जाता।

मगध-साम्राज्य की परिस्थिति बराबर डाँवाडोल होती जा रही थी। पण्य खाली पड़े थे। अग्रहारिक (दानाध्यक्ष) बौद्ध श्रमणों और बौद्ध विहारों के लिए सदा मुक्तहस्त रहता। कटुक, कर्मदार, कायस्थ, कुलिक, घर, भट,—सभी अपने-अपने व्यवसायों को छोड़कर मुण्डक बने जा रहे थे। चारों ओर विलास और व्यभिचार का राज्य था। वत्तु प्रदेश

से यवनों की नई सेना के अभियान के समाचार आते और मगध के नागरिक चक्रवर्ती खारवेल के नाम मात्र से ही त्रस्त हो जाते। अब तक मगध की गजवाहिनी अद्वितीय थी और विदेशी आक्रमणों में वह लोहभित्ति की भाँति दृढ़ रही थी। परन्तु अब खारवेल की गज-वाहिनी की संख्या औसत में मगध की गजवाहिनी से बढ़ी-चढ़ी थी। खारवेल के मेघवाहन हाथी का नाम तो भारत के नगर-ग्राम में पहुँच गया। पार्श्वनाथ गिरि को केन्द्र बना कर कलिंगपति चक्रवर्ती खारवेल मगध और दक्षिण की ओर एक साथ बढ़ना चाहता था।

एक दिन प्रमदवन के एकांत कुंजभवन में सेनापति पुष्यमित्र ने सम्राट् बृहस्पतिमित्र से भेंट की। उन्होंने कहा—'सम्राट्, अब सेना का संगठन नए ढंग से करें। अब देवप्रिय 'सम्राट् अशोक के धर्मचक्र से काम नहीं चलता दीखता। हमारी विनीत सेना प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है। अब हम तीन ओर शत्रुओं से घिरे हैं। पूर्व-पच्छिम और दक्षिण-पश्चिम में यवन हैं। दक्षिण में यज्ञसेन हैं। पूर्व में कलिंगपति खारवेल। मुझे तो इस समय राजधानी सुरक्षित नहीं जान पड़ती।'

सम्राट् भी गंभीर हो गये। कुछ देर सोचकर उन्होंने कहा—'क्या हम खारवेल से मित्रता नहीं कर सकते?'

'कर सकते हैं'—सेनापति बोले—'परन्तु हमें कलिंग की वह स्वर्ण जिनमूर्ति लौटानी होगी जो सम्राट् अशोक मगध से लाए थे। यह जिन-मूर्ति कलिंग की देवमूर्ति है। इसे लौटाना होगा।'

सम्राट् स्तब्ध रहे।

फिर उन्होंने कहा—'उस जिनमूर्ति को लौटाना अपमान-जनक है, जब खारवेल ने इसके लिए हमें कोई पत्र नहीं भेजा। हम स्वयं जिन नहीं। जैनों से हमारा कोई झगड़ा नहीं। परन्तु वह मूर्ति अब कलिंग नहीं जा सकेगी।'

'परन्तु फिर रक्तपात होगा।'

'हो। इसका उपचार असम्भव है।'

'दिमित्र की सेना पास है।'

'खारवेल दिमित्र से मिल नहीं सकता। मैं जानता हूँ। परन्तु सम्भव है, हम यवनों के विरुद्ध खारवेल को तैयार कर सकें। इसीलिए हमारे पार्श्वनाथ गिरि पर बलपूर्वक अधिकार जमा लेने पर भी हमने खारवेल के विरुद्ध युद्ध नहीं छेड़ा। राष्ट्र की बात बृहस्पति भी समझता है।'

उन्होंने हलका कहकहा लगाया।

पुष्यमित्र जानते थे, सम्राट् उनकी बातों पर ध्यान नहीं दे रहे। पृथ्वी के नीचे-नीचे जो भयंकर भूडोल चल रहा था, उसका उन्हें पता नहीं था।

उस रात पुष्यमित्र जब अपने विशाल प्रासाद में लौटकर आ गये, संध्या हो चुकी थी। स्थान-स्थान पर दीपदंडधारी सैनिक खड़े थे। पण्यवीथियाँ हतप्रभ थीं; परन्तु उनमें निष्क का आदान-प्रदान अब भी उसी तरह चल रहा था। दो घंटों तक प्रधान कायस्थ से बात करने पर उन्हें पता चला कि सुदूर प्रान्तों में क्या हो रहा है। मधुवन और मथुरा के यवन आतंक से बड़े विचलित हुए। उन्हें कृष्णदेव पर विश्वास था। मथुरा वासुदेव धर्म का केन्द्र था। इस केन्द्र से ही नई राष्ट्र ज्योति फूटकर सीमांतों तक फैलने वाली थी। इस केन्द्र को नष्ट होने से बचाना होगा, परन्तु अभी राजदंड निर्बल था। उधर अग्निमित्र का बहुत दिनों से कोई पता नहीं मिला था। वह उज्जयिनी से सहसा लौट ही गया था। महाकाल के मंदिर की देवदासी इरावती भी उसी समय लोप हो गई थी, वह यह भी जानते थे। परन्तु अग्निमित्र ऐसे दु:साहस के काम करेगा जिससे उसका पिता संकट में पड़ जाये, इसका उन्हें कोई विश्वास न था। फिर भी अग्निमित्र उन्हें प्रसन्न नहीं कर सकता था। तब क्या पतञ्जलि की शिक्षा व्यर्थ गई?

गानर्द से पतञ्जलि के पत्र उन्हें मिलते रहते थे। ऋषि पतञ्जलि ने मालवा से लेकर शौरसेन प्रदेश तक एक नई क्रांति की लहर दौड़ा दी थी। वासुदेव जी गये थे। जीवन के नए गवाक्ष खुल गये थे और शून्य-वादी अनात्म के स्थान पर उपासना-प्रधान अर्चना-मूलक भागवत-भक्ति की स्थापना हो गई थी। यवनों के अत्याचारों और उनके मधुवनदाह के समाचार सारे देश में फैल गये थे और लोग उत्तेजित थे। पतञ्जलि ने लिखा था—'यवनों और शकों के दल मज्झमिका, उज्जयिनी, मथुरा और कान्यकुब्ज में घूम रहे हैं। इस समय अनात्मवाद और अहिंसा से काम नहीं चलेगा। हमारी अहिंसा अब स्वयं हमारी हिंसा करने लगी है। मैत्री के संदेश ने राष्ट्रीयता की जड़ों को खोखला कर दिया है। धर्म का स्थान पाप ने ले लिया है। भगवान अमिताभ की अहिंसा आज दुर्बल मुण्डकों और निर्जीव सिद्ध-सिद्धनियों की अहिंसा मात्र रह गई है। विनाश और सृष्टि के महान् चक्र के पीछे विकास और विनाश का जो चक्र चल रहा है, उसे हम मालव और मागध भूल गए हैं। वीभत्स में सुन्दरता का आदर्श ढूँढने की तरह देश के अन्तःपुर में उमड़ती हुई उच्छृङ्खल हिंसा-शक्तियों के बीच हिंसा अधर्म और पाप है। आज मानवता ने दैत्य को अस्वीकार कर दुर्जनों के वध के लिए खड्ग और यज्ञोपवीत धारण किया है। राजपुरोहित स्वयं अपने भवन में चर-चरियों से घिरे हुए धर्म चक्र नहीं राज चक्र घुमा रहे हैं। उन पर नियंत्रण रखना होगा और अहिंसा, आत्म-परमात्म, धर्म-अधर्म इन सब की नई व्याख्या करनी होगी। युग-परिवर्तन के साथ धर्म में भी परिवर्तन! भेद-भाव उपस्थित करने वाली सभ्यता को दूर ही से नमस्कार है। आज या कल देश की कुण्ठित खड्ग मौर्यों के लिए उठ खड़ी होगी। उस दिन के लिए जागरूक रहना होगा। और देखो वह दिन पास आ रहा है!

१५

पार्श्वनाथ के विशाल जैन-मन्दिर अब पूर्णतः बन चुके हैं और उनके स्वर्ण-तोरणों और स्फटिक-द्वारों पर बालसूर्य की प्रथम किरणें नृत्य करने लगी हैं। योजन-विशाल क्षेत्र में इस छोटी सी पर्वत-श्रेणी के ऊपर कला, स्थापत्य और सुरुचि के प्रमाण-स्वरूप जैन-श्रद्धा जैसे आकाश का आलिंगन कर रही है। अभी बालसूर्य की रश्मियों में तपन नहीं है। एक तरुण राजपुरुष एक सिंहपीठ पर चिंता की मुद्रा में बैठा हुआ है। मणिबन्ध में चम्पाद्वीप का एक महान् रत्न है जो कभी-कभी प्रकाश में भी झलमला जाता है। अभी श्मश्रु नहीं आई है। रतनारी आँखें। अनार्य रक्त का मिश्रण आँखों में फूट पड़ता था। वह तरुण राजपुरुष खारवेल थे।

पार्श्वेद ने आकर अभ्यर्थना की—'कलिंगाधिपति चक्रवर्ती खारवेल की जय हो!'

तरुण सतर्क हो गया। चिंता की रेखाएँ मिट गईं। उसने पूछा—'क्या समाचार है?'

'समाचार अच्छा नहीं है। दिमित्र की सेनाएँ कान्यकुब्ज की ओर बढ़ रही हैं। कदाचित् साकेत पर भी आक्रमण हो। द्विज-सेनापति पुष्पमित्र इकेले इतनी बड़ी विदेश शक्ति को रोकने में असमर्थ हैं। मगध में नंदवंश के समर्थकों ने गुप्त संस्थाएँ बना रखी हैं। वह भीतर से विद्रोह करेंगे। इस प्रकार मगध आतंकित है।

खारवेल चिंतित हो गये। उन्होंने कहा—समाचार चिंता-जनक है। एक बार मगध के सिंहासन पर अधिकार प्राप्त कर यवन उसे सहज ही नहीं छोड़ेंगे। कलिंग और मगध में शत्रुता सही, परन्तु कलिंग मगध

निर्बल कर दिया है, उसे देखते हुए यही समझ पड़ता है कि या तो मगध में कोई क्रान्ति हो, या हम उस पर आक्रमण करें और इस प्रकार यवनों के आक्रमण को विफल कर दें।

तभी केयूरक ने 'जय' कही।

उसने कहा—'आर्य, मगध पर एक अनिश्चित आतंक की छाया है। पण्यवीथिकाएँ सूनी हैं। आपान खाली हैं। केवल कुसुमपुर विलास और मदिरा का व्यवसाय कर रहा है। आपके पराक्रम से मगध भली-भाँति परिचित जान पड़ते हैं।'

वह मुस्कराया।

खारवेल ने जिज्ञासा के भाव से उसे देखा।

उसने कहा—'मगध के भीतर कूट-चक्र चल रहे हैं। नन्दवंश के समर्थकों ने कालिंदी नाम की एक अज्ञात कुलशीला प्रतिवेशिनी को नन्दवंश की राजकुमारी घोषित कर दिया है। इन लोगों का एक बलशाली दल है। अनेक रत्न-भंडारों के बीजक इनके हाथ में आ गए हैं और ये लोग धीरे-धीरे विद्रोह के बीज बो रहे हैं। उनकी सिंहछाप के काग़ज़-पत्र साम्राज्य भर में दौड़ा करते हैं। स्वयं सम्राट् वृहस्पितिमित्र कालिन्दी के रूप के मायाजाल में फँस गये हैं। लोग कहते हैं, कालिन्दी विषकन्या है और उसके प्रयोग से नन्दवंश के समर्थक मौर्यों को नष्ट करने में सफल होंगे।'

इस सूचना को खारवेल आश्चर्य के भाव से सुनते रहे। मगध राजवंश की किसी भी कन्या से वे परिचित नहीं थे। राजवंश को नष्ट हुए कई पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। अतः नन्दवंश की राजकुमारी की बात जनता को भुलाने के लिए होगी, वह यह समझ गये थे।

मन्दिर में निर्माण का कार्य अभी चला जा रहा था। कई सहस्र कर्मकार, स्थपित, लौहकार इस काम में लगे हुए थे। भारत, बालि, भव,

में जड़े हुए रत्न और मानिकों की अलौकिक प्रभा से यह अन्धकार कक्ष भी आकर्षक वर्णच्छटाओं से भर गया था। केयूरक स्वामी को चिंतामग्न देखकर इन चित्रों से ही जी बहला रहा था। इनमें एक चित्र संसार-वृक्ष का भी था। एक महान् विटप पर मोहासन्न मनुष्य अपनी दुर्बलता को अपना बल समझे बैठा था और उस वृक्ष की शाखा-प्रशाखाओं को अगणित मूषक तीखे दाँतों से छेद रहे थे। यह मनुष्य क्या सुरक्षित हो सकता था? मौर्य साम्राज्य की वही दशा थी।

जब उसे बोध हुआ, खारवेल उठ खड़े हुए थे। वे गर्भद्वार की ओर बढ़ रहे थे। उन्होंने उस चित्र की ओर गई केयूरक की उत्कण्ठा को देख लिया था। वे बोले—'तुम सोच रहे हो, मगध का साम्राज्य इसी मनुष्य की तरह हीनशौर्य है! क्यों, केयूरक!'

वह मुस्कराये।

उन्होंने कहा—'जिन-धर्मग्रंथ शत्रु के संकट से लाभ उठाने की आज्ञा नहीं करते। यह धर्मनीति नहीं है। जब तक खारवेल की बाहुओं में मगध जैसे किसी केन्द्रीय साम्राज्य की स्थापना की शक्ति नहीं है, तब तक लड़खड़ाते हुए मगध पर प्रहार करना देश का अपकार करना है। हम इस देश की राजनीति में एक महान् बवण्डर उठाना नहीं चाहते। परन्तु कलिंग का गौरव कलिंग की जिनमूर्ति मागधों को लौटानी होगी। इससे उन्हें त्राण नहीं मिलेगा। हम मगध को दुर्बल नहीं करना चाहेंगे, परन्तु खारवेल के रहते यवन मगध पर अधिकार भी नहीं कर सकेंगे। देखें, पुष्यमित्र मगध को कैसे बचाते हैं?'

गर्भगृह से निकल कर दोनों गुप्त मार्ग से नगर में आ गये। खारवेल इस समय गुप्त वेश में थे और केयूरक मागध वेश में। इसी वेश में उसने मगध से कलिंग की यात्रा की थी। वे धन-धान्यपूर्ण कलिंग की सर्वश्रेष्ठ पण्य-वीथियों के भीतर से होकर जा रहे थे, कि केयूरक ने

खारवेल के बाहुमूल को पकड़ कर संकेत किया। अवगुंठनवती एक अपूर्व सुन्दरी मागधी रत्न-पण्य की ओर बढ़ रही थी।

'कालिन्दी !'

आश्चर्य से खारवेल ने प्रतिध्वनि की—'कालिन्दी !'

'हाँ, नन्दवंश की राजकुमारी।'

खारवेल क्षण भर स्तब्ध खड़े हो गये। उन्होंने कहा—'केयूरक, इस रहस्यमयी रमणी का कलिंग आना संकट से खाली नहीं। तुम जाओ। मैं इसकी गति-विधि पर ध्यान रखना चाहता हूँ। संध्या होते-होते मैं राजभवन में पहुँच जाऊँगा। हो सकता है, यह सुन्दरी तुम्हारे पीछे-पीछे कलिंग आई हो, या और कुछ रहस्य हो। कितना आश्चर्य है एक युवती मगध साम्राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र खड़ा कर सकती है। मैं भी इसे देखूँ।'

एक तंग रत्न-वीथी में घुसकर कालिन्दी लोप हुआ चाहती थी। केयूरक को वहीं स्तब्ध छोड़कर तरुण खारवेल उसी वीथी में घुस गया।

१६

तंग-वीथी में एक आकाशचुम्बी अट्टालिका के सामने पहुँच कर कालिंदी रुकी। वह स्थान इस समय जनशून्य था। पीछे चलकर कोई उसका पीछा कर रहा है, इसका आभास उसे हो गया था। दीप जल चुके थे, परन्तु इस स्थान पर आलोक क्षीण ही था। सिंहद्वार के पास कालिंदी रुकी। उसने कड़क कर पूछा—

'कौन हो जी, जो इस तरह मेरा पीछा करते हो ?'

खारवेल पास आ गया। उसने दृढ़ता से कहा—'कौन हो तुम, सुन्दरी ? कलिंग की नागरिक तो तुम नहीं जान पड़तीं। इस तुम्हारे गुप्त अभियान का क्या अर्थ है ? क्या तुम मौर्यों की दूतिका तो नहीं हो ?'

कालिंदी ने अन्यमनस्कता से कहा—'तुम कोई भी हो, बड़े वाचाल जान पड़ते हो। तुम्हें पर-स्त्री से बात नहीं करना चाहिये।'

खारवेल ने अट्टहास किया—'पर-स्त्री।'

वह फिर ठहाका मार कर हँसा—'तुम शत्रुराष्ट्र की नागरिका हो।' पाटलीपुत्र से तुम आ रही हो। कालिन्दी तुम्हारा नाम है। सच है न ?'

कालिन्दी आश्चर्य में डूब गई।

उसने खड्ग निकाल लिया। क्षण भर में 'यह लो, तो मरो !' कहते हुए उसने प्रहार किया और यदि खारवेल सतर्क न हुआ होता तो वह घायल हो गया होता। कई क्षणों तक खड्गों का युद्ध चलता रहा। कालिन्दी सुन्दरी ही नहीं थी वह वीर युवती थी। खारवेल उसके साहस पर मुग्ध हो गया।

सहसा सिंहद्वार पर कोई आया। खड्गों की 'छपाक्-छपाक्' से वह समझ नहीं सका कि बात क्या है। उसने चिल्लाकर भृत्य को दीपदण्ड लाने की आज्ञा दी। खारवेल ने कहा—'कलिन्दी, यह खेल बन्द कर दो।'

परन्तु शायद कालिन्दी ने इसे सुना नहीं।

उल्काधारी आ गये। सिंहद्वार जगमग हो उठा। दोनों युद्धवीरों ने परस्पर देखा।

चंपक-सा वर्ण। मुख पर ताम्बूल की रेखा। मस्तक पर उत्तेजना और भय से झलके हुए श्रम-कण। कंचुक के नीचे क्षोभ और साहस से उथल-पुथल होता हुआ सौन्दर्य। कालिंदी खारवेल के मन को

छू गई। उधर कालिंदी भी इस तेजवान युवक से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। खारवेल ने समझा—अपूर्व सुन्दरी। कालिन्दी ने मन में कहा, सुन्दर तरुण है।

तभी घर में चलने को कहा गया। भीतर विशाल प्रांगण था। एक कटे-छटे छोटे से उद्यान में कृत्रिम क्रीड़ा-शैल पर बैठ कर सब विश्राम करने लगे। उत्सुक जन उमड़ आये थे।

गृहस्वामी ने कहा—'युवक, तुमने अज्ञात कुलशीला युवती से लड़-भिड़ कर कलिंग के वीर नाम को ठेस पहुँचाई है। तुम्हें दण्डित होना होगा।'

खारवेल ने मुस्करा कर कहा—'परन्तु जब स्त्री विदेशी नर्तकी हो।'

'तभी तो, तरुण! मागध हमें क्या कहेंगे?'

कालिंदी की ओर मुड़ कर खारवेल ने कहा—'कालिंदी, देख लिया तुमने कलिंग के खड्ग का शौर्य। क्या इसी साहस पर तुम आग से खेलने चली थीं?'

कालिंदी की ओर देखकर वह मुस्कराया। क्रीड़ा-शैल के शिखर से प्रकाश जलधारा की भाँति झर रहा था। कालिंदी उसी को देख रही थी।

उसने धीरे से कहा—'आप कौन हैं, देव!'

गृहस्वामी को खारवेल की उच्छृङ्खलता बुरी लग रही थी। उसने कहा—'तरुण, तुम बात करना नहीं जानते। तुम कलिंग के ही जान पड़ते हो। अपना खड्ग इधर दो!'

धीरे से खड्ग गृहस्वामी को दे दिया गया। हीरे के अक्षरों में लिखा था—'कलिंगाधिपति खारवेल'। प्रकाश में ये अक्षर कीलित मंत्र की तरह दमक उठे। आश्चर्य से गृहपति ने खारवेल की ओर देखा। तरुण मुस्करा रहा था।

'कलिंगाधिपती जिनभक्त जैन सम्राट् खारवेल की जय!'

खारवेल पास आ गया। उसने दृढ़ता से कहा—'कौन हो तुम, सुन्दरी? कलिंग की नागरिक तो तुम नहीं जान पड़तीं। इस तुम्हारे गुप्त अभियान का क्या अर्थ है? क्या तुम मौर्यों की दूतिका तो नहीं हो?'

कालिंदी ने अन्यमनस्कता से कहा—'तुम कोई भी हो, बड़े वाचाल जान पड़ते हो। तुम्हें पर-स्त्री से बात नहीं करना चाहिये।'

खारवेल ने अट्टहास किया—'पर-स्त्री।'

वह फिर ठहाका मार कर हँसा—'तुम शत्रुराष्ट्र की नागरिका हो। पाटलीपुत्र से तुम आ रही हो। कालिन्दी तुम्हारा नाम है। सच है न?'

कालिन्दी आश्चर्य में डूब गई।

उसने खड्ग निकाल लिया। क्षण भर में 'यह लो, तो मरो!' कहते हुए उसने प्रहार किया और यदि खारवेल सतर्क न हुआ होता तो वह घायल हो गया होता। कई क्षणों तक खड्गों का युद्ध चलता रहा। कालिन्दी सुन्दरी ही नहीं थी वह वीर युवती थी। खारवेल उसके साहस पर मुग्ध हो गया।

सहसा सिंहद्वार पर कोई आया। खड्गों की 'छपाक्-छपाक्' से वह समझ नहीं सका कि बात क्या है। उसने चिल्लाकर भृत्य को दीपदण्ड लाने की आज्ञा दी। खारवेल ने कहा—'कलिन्दी, यह खेल बन्द कर दो।'

परन्तु शायद कालिन्दी ने इसे सुना नहीं।

उल्काधारी आ गये। सिंहद्वार जगमग हो उठा। दोनों युद्धवीरों ने परस्पर देखा।

चंपक-सा वर्ण। मुख पर ताम्बूल की रेखा। मस्तक पर उत्तेजना और भय से झलके हुए श्रम-कण। कंचुक के नीचे क्षोभ और साहस से उथल-पुथल होता हुआ सौन्दर्य। कालिंदी खारवेल के मन को

छू गई। उधर कालिंदी भी इस तेजवान युवक से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। खारवेल ने समझा—अपूर्व सुन्दरी। कालिन्दी ने मन में कहा, सुन्दर तरुण है।

तभी घर में चलने को कहा गया। भीतर विशाल प्रांगण था। एक कटे-छटे छोटे से उद्यान में कृत्रिम क्रीड़ा-शैल पर बैठ कर सब विश्राम करने लगे। उत्सुक जन उमड़ आये थे।

गृहस्वामी ने कहा—'युवक, तुमने अज्ञात कुलशीला युवती से लड़-भिड़ कर कलिंग के वीर नाम को ठेस पहुँचाई है। तुम्हें दण्डित होना होगा।'

खारवेल ने मुस्करा कर कहा—'परन्तु जब स्त्री विदेशी नर्तकी हो।'

'तभी तो, तरुण! मागध हमें क्या कहेंगे?'

कालिंदी की ओर मुड़ कर खारवेल ने कहा—'कालिंदी, देख लिया तुमने कलिंग के खड्ग का शौर्य। क्या इसी साहस पर तुम आग से खेलने चली थीं?'

कालिंदी की ओर देखकर वह मुस्कराया। क्रीड़ा-शैल के शिखर से प्रकाश जलधारा की भाँति झर रहा था। कालिंदी उसी को देख रही थी।

उसने धीरे से कहा—'आप कौन हैं, देव!'

गृहस्वामी को खारवेल की उच्छृङ्खलता बुरी लग रही थी। उसने कहा—'तरुण, तुम बात करना नहीं जानते। तुम कलिंग के ही जान पड़ते हो। अपना खड्ग इधर दो!'

धीरे से खड्ग गृहस्वामी को दे दिया गया। हीरे के अक्षरों में लिखा था—'कलिंगाधिपति खारवेल'। प्रकाश में ये अक्षर कीलित मंत्र की तरह दमक उठे। आश्चर्य से गृहपति ने खारवेल की ओर देखा। तरुण मुस्करा रहा था।

'कलिंगाधिपती जिनरक्षक जैन सम्राट् खारवेल की जय!'

खारवेल पास आ गया। उसने दृढ़ता से कहा—'कौन हो तुम, सुन्दरी? कलिंग की नागरिक तो तुम नहीं जान पड़तीं। इस तुम्हारे गुप्त अभियान का क्या अर्थ है? क्या तुम मौर्यों की दूतिका तो नहीं हो?'

कालिंदी ने अन्यमनस्कता से कहा—'तुम कोई भी हो, बड़े वाचाल जान पड़ते हो। तुम्हें पर-स्त्री से बात नहीं करना चाहिये।'

खारवेल ने अट्टहास किया—'पर-स्त्री।'

वह फिर ठहाका मार कर हँसा—'तुम शत्रुराष्ट्र की नागरिका हो। पाटलीपुत्र से तुम आ रही हो। कालिन्दी तुम्हारा नाम है। सच है न?'

कालिन्दी आश्चर्य में डूब गई।

उसने खड्ग निकाल लिया। क्षण भर में 'यह लो, तो मरो!' कहते हुए उसने प्रहार किया और यदि खारवेल सतर्क न हुआ होता तो वह घायल हो गया होता। कई क्षणों तक खड्गों का युद्ध चलता रहा। कालिन्दी सुन्दरी ही नहीं थी वह वीर युवती थी। खारवेल उसके साहस पर मुग्ध हो गया।

सहसा सिंहद्वार पर कोई आया। खड्गों की 'छपाक्-छपाक्' से वह समझ नहीं सका कि बात क्या है। उसने चिल्लाकर भृत्य को दीपदण्ड लाने की आज्ञा दी। खारवेल ने कहा—'कलिन्दी, यह खेल बन्द कर दो।'

परन्तु शायद कालिन्दी ने इसे सुना नहीं।

उल्काधारी आ गये। सिंहद्वार जगमग हो उठा। दोनों युद्धवीरों ने परस्पर देखा।

चंपक-सा वर्ण। मुख पर ताम्बूल की रेखा। मस्तक पर उत्तेजना और भय से झलके हुए श्रम-कण। कंचुक के नीचे क्षोभ और साहस से उथल-पुथल होता हुआ सौन्दर्य। कालिंदी खारवेल के मन को

छू गई। उधर कालिंदी भी इस तेजवान युवक से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी। खारवेल ने समझा—अपूर्व सुन्दरी। कालिन्दी ने मन में कहा, सुन्दर तरुण है।

तभी घर में चलने को कहा गया। भीतर विशाल प्रांगण था। एक कटे-छटे छोटे से उद्यान में कृत्रिम क्रीड़ा-शैल पर बैठ कर सब विश्राम करने लगे। उत्सुक जन उमड़ आये थे।

गृहस्वामी ने कहा—'युवक, तुमने अज्ञात कुलशीला युवती से लड़-भिड़ कर कलिंग के वीर नाम को ठेस पहुँचाई है। तुम्हें दण्डित होना होगा।'

खारवेल ने मुस्करा कर कहा—'परन्तु जब स्त्री विदेशी नर्तकी हो।'

'तभी तो, तरुण! मागध हमें क्या कहेंगे?'

कालिंदी की ओर मुड़ कर खारवेल ने कहा—'कालिंदी, देख लिया तुमने कलिंग के खड्ग का शौर्य। क्या इसी साहस पर तुम आग से खेलने चली थीं?'

कालिंदी की ओर देखकर वह मुस्कराया। क्रीड़ा-शैल के शिखर से प्रकाश जलधारा की भाँति झर रहा था। कालिंदी उसी को देख रही थी।

उसने धीरे से कहा—'आप कौन हैं, देव!'

गृहस्वामी को खारवेल की उच्छृङ्खलता बुरी लग रही थी। उसने कहा—'तरुण, तुम बात करना नहीं जानते। तुम कलिंग के ही जान पड़ते हो। अपना खड्ग इधर दो!'

धीरे से खड्ग गृहस्वामी को दे दिया गया। हीरे के अक्षरों में लिखा था—'कलिंगाधिपति खारवेल'। प्रकाश में ये अक्षर कीलित मंत्र की तरह दमक उठे। आश्चर्य से गृहपति ने खारवेल की ओर देखा। तरुण मुस्करा रहा था।

'कलिंगाधिपती जिनरक्षक जैन सम्राट् खारवेल की जय!'

खारवेल ने परिस्थिति सँभाली। उसने खड्ग हाथ में ले लिया। कहा—'इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, नागरिक! खारवेल कलिंग का केवक है, शासक नहीं। तुम जन ही तो खारवेल के बल हो। इस शंकास्पदा युवती के पीछे-पीछे मैं यहाँ आ गया।'

कालिंदी भी अब संयत हो चुकी थी। उसने कहा—'कलिंगाधिपति चक्रवर्ती दासी की धृष्टता को क्षमा करेंगे। कालिंदी की यही प्रार्थना है। जैसा सुना, वैसा ही पाया।'

वह मुस्करा रही थी। जाने को मुड़ रही थी।

खारवेल ने हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—'नन्दकन्ये, इस षड्यंत्र का क्या अर्थ है? दिमित्र मथुरा में अत्याचार कर रहा है, क्या तुम्हें इसका पता नहीं? तुम नहीं जानती, देश में तुम कैसी आग लगा रही हो! तुमने विषैले सर्प के मस्तक पर पैर धर दिया है। पुष्यमित्र को तुम नहीं जानतीं!'

कालिंदी ने सहज हास से कहा—'सम्राट् के लिए तन, मन, धन समर्पित है। कालिंदी मुरा-माता की संतान है। कायर मौर्यों ने जिस महान् वटवृक्ष को उखाड़ फेंका, दुर्वासा चाणक्य ने जिस कुश की ड़ में तक्र भर दिया कि वह फिर फले-फूले भी नहीं, वही आज मौर्यों नाश चाहता है।'

खारवेल चिंतित हो गये।

उन्होंने कहा—'देश पर यवन-युद्ध के बादल घुमड़ रहे हैं। आज यदि जैन, बौद्ध, हिन्दू एक झंडे के नीचे इकट्ठे हो इस अखंड भारतभूमि के उद्धार के लिए निकल पड़ें तो दिमित्र, षड्रोस और मिलिन्द बल्ख की गलियाँ झाँकेंगे। मौर्य जर्जर सही, परन्तु पुष्यमित्र की भुजाओं में शिथिलता नहीं आई है। परन्तु, तुम मुझसे क्या चाहती हो, युवती?'

'नहीं बताऊँ?'

१७

हेमन्त के उस प्रभात में दिवाकर, रत्नाम्बर और इन्दु ने आश्चर्य से देखा, आचार्य भूर्जपत्र बाँध रहे हैं। बड़े-बड़े पोथे सँभाल कर रखे जा रहे हैं। जैसे आश्रम छोड़कर वे कहीं बाहर जा रहे हों।

इन्दु ने पूछा—'पिता, यह आप प्रातः क्या कर रहे हैं?

महाभाष्य की एक विशाल पांडुलिपि लपेटते हुए उन्होंने किंचित स्मिति से कहा—'इन्दु, मुझे पाटलिपुत्र जाना है।'

इन्दु चुप रही।

मुनि बोले—'हाँ बेटी, पुष्यमित्र ने बुलाया है। मैं उसका ऋत्विज हूँ न?' वह मुस्कराये।

इसका अर्थ इन्दु नहीं समझी।

उसने कहा—'मैं भी चलूँगी, पिता।'

पिता ऋषि ने मोह की आँखों से उसे देखा—भूर्जपत्र उसी तरह छोड़ कर उठ खड़े हुए। इन्दु के कटि तक फैले कोमल-मसृण केश-पाशों को दुलारते हुए उन्होंने कहा—'बेटी इन्दु, तू एक दिन अवश्य पाटलिपुत्र जायगी। परन्तु आज नहीं, बेटी! तू मगध की रानी बनेगी।'

इन्दु लज्जा से लाल! यह भागी! वह भागी! मौलसिरी के कुंज में उसने शरण ली।

हिरणी की तरह छलाँग मारती इस लज्जालु लड़की को क्षण भर स्नेह से देखते रहे। दो क्षण चुप रह कर पुकारा—'इन्दु!'

करना जिससे इसका मन न दुखे। यदि तुम्हें मेरे पास कोई संदेश भेजना हो तो अवंति के दण्डनायक को कहला देना। इस समय सारे देश में अशांति के बादल उमड़ रहे हैं। यवन अभी कर्कोटक से परास्त होकर भागे हैं। मथुरा दूर नहीं है। वह उसे केन्द्र बना रहे हैं। अतः सतर्क रहना। समय-समय पर मेरा आदेश तुम्हें मिलता रहेगा।'

रत्नाम्बर ने कहा—'जो आज्ञा, गुरुदेव ! तब तक दिवाकर स्वाध्याय में प्रमाद न करे, यह आदेश इसे दे जाइये।'

ऋषि मुस्कराये।

'वत्स'—उन्होंने स्नेह से कहा—'दिवाकर बड़ा सीधा लड़का है। तुम इसे चिढ़ाया मत करो। हिले-मिले रहो। तुम तीनों ही मेरे पुत्र हो। आश्रम की मर्यादा का पालन करो।'

जब ऋषि चले गये तो भरी हुई आँखों से तीनों उस वृद्ध, परन्तु तेजस्वी कर्मठ पुरुष को देखते रहे। दूर शिप्रा-तट की तमाल-पाँति में वह वृद्ध परन्तु तेजस्वी शरीर धीरे-धीरे लोप हो गया। देर तक तीनों चुप रहे। फिर धीरे से निःश्वास छोड़ते हुए इन्दु बोली—'मथुरा दूर है न, दिवाकर ! कितनी दूर है ?'

परन्तु दिवाकर उत्तर दे, इससे पहले ही रत्नाम्बर बोल उठा—'बहुत दूर इन्दु बहिन, वहाँ वासुदेव के बड़े-बड़े मन्दिर हैं। जैसे मालव महाकाल की उपासना करते हैं वैसे सात्वत् और आभीर वासुदेव की जय मनाते हैं। बड़े वीर, निर्द्वन्द और भावुक लोग हैं माथुर !'

'तुम मथुरा गये हो, बन्धु रत्नाम्बर ?' इन्दु ने जिज्ञासा की।

रत्नाम्बर ने मुस्करा कर स्नेह से उसे देखते हुए कहा—'कैसी भोली हो, इन्दु ! तुम्हारा रत्नाम्बर कोई पाणिनी का शिष्य तो है नहीं जो शिवा-सूत्रों में उलझता रहे। वह तो चाणक्य को ही एकमात्र ऋषि मानता है। चाणक्य कहते हैं—लोकज्ञान इकट्ठा करो, देश-विदेश घूमो, यवनों को देश से निकाल दो, सारे भारत में एक महान एकराष्ट्र की स्थापना

तरुण को इन्दु भूली नहीं है। उसे इस तरुण के भाग्य पर ईर्ष्या होने लगी। इन्दु भावना में विभोर वीणा पर अंगुलियाँ चला रही थी। बिल्कुल पत्रों के नीचे उसके उभरे हुए वक्ष की रेखाएँ आवेश के कारण स्पष्ट झलक रही थीं। भावों के उत्थान-पतन के साथ उसके नयन चंचल हो उठे थे।

दिवाकर उसे आश्चर्य से देख रहा है, यह भूलकर रत्नाम्बर मुग्ध भाव से इन्दु को देखता रहा।

१८

शरत्-पूर्णिमा। पृथ्वी ज्योत्स्ना में नहा रही थी और आकाश उस नग्न सौन्दर्य को देखकर स्तब्ध हो रहा था। कुक्कुटाराम के विहार के एक कक्ष में श्रामणेरी प्रज्ञा और भिक्षुणी इरावती में बातें हो रही थीं। महाकाल की नर्तकी राजाज्ञा से यहाँ लाई जाकर बौद्ध स्थविर की देख-रेख में नई शिक्षा प्राप्त कर रही थी। वह जानती थी, यह सब छल है। हृदय की प्रताड़ना है। बृहस्पतिमित्र के रंगमहल के प्रसाधन उनकी बाट देख रहे थे। परन्तु वह कुछ सोच नहीं सकती। जैसे भी हो, वह भूल जाना चाहती है अतीत, भूल जाना चाहती है शिप्रा की चंचल लहरियाँ, महाकाल के नृत्य-उत्सव और मालवमणि तरुण अग्निमित्र। एक टीस-सी उसके हृदय में उठती है। जब उसने आत्म-समर्पण किया तो अग्निमित्र ने उसे स्वीकार नहीं किया, जब अग्निमित्र का गर्व उसके चरणों में लोटा, तब वह हिमालय की तरह अडिग रही। और अग्नमित्र कहाँ है, वह नहीं जानती। उसने आत्मघात की चेष्टा की, परन्तु असफल

रही। अब एक नए छल से उसे लड़ना पड़ रहा है। तब वह क्या सब चुपचाप सहन कर लेगी?

द्वार पर वृद्धा धर्मपालिका दिखलाई दी। उसने पूछा—'क्या बातें हो रही हैं, भगिनी?'

मुस्करा कर प्रज्ञा ने कहा—'आर्य, आर्य! मैं इस नई शिक्षमाणा को धर्म का सन्देश देती थी।'

'धर्म की जय हो!—भीतर आते हुए वृद्धा ने कहा—'नई शिक्ष-माणा! तुम्हारा नाम क्या है?

वह खड़ी हुई मुस्कराने लगी।

इरावती ने विनम्रता से कहा—'मैं इरावती हूँ! महाकाल के मन्दिर की नर्तकी!'

'नर्तकी!' वृद्धा ने नाक सिकोड़ी। 'तुम देवदासी हो?'

'हाँ!'

वह चुप हो रही।

'तुम यहाँ शांति पाओगी, पुत्री!' वृद्धा ने उसकी पीठ पर हाथ फेरते हुए कहा—'अमिताभ का धर्म जनमात्र को शांति और सुख का सन्देश पहुँचाता है।

इरावती का साहस बढ़ा। उसने कहा—'सो तो भन्ते! मैं सुख और शांति के लिए प्रयत्न कर रही हूँ परन्तु मुझ अभागिनी के भाग्य में सुख और शांति है कहाँ?'

वृद्धा ने उसे सान्त्वना दी। 'सुख और शांति मन की व्यवस्था है, शिक्षमाणा! तुम्हारे मन में अभी दुःख की भावना है इससे तुम दुखी हो। यदि तुम्हें इस क्षणभंगुर शरीर और उसके सौन्दर्य के उपसाधनों पर मोह न हो, तो तुम दुखी नहीं हो। चेष्टा करो, पुत्री! भगवान तथागत तुम्हें सुबुद्धि दें। सुन्दर मानव शरीर देवता की प्रसादी है। इस शरीर से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है।'

इरावती को मन ही मन हँसी आ रही थी। ब्रह्मचारी आनन्द भी तो इससे भिन्न कुछ नहीं कहता था। तब उसे लालसा थी, अनात्म के उपासकों के बीच में रह कर अपने सौन्दर्य की एक बार परीक्षा करे। परन्तु इन अनात्म के उपासकों में तो सारा ढोंग ही ढोंग है। कितनी बड़ी प्रताड़ना, कितनी बड़ी भोग-लिप्सा छिपी है इनके त्याग और वैराग्य के गर्वीले वस्त्रों के नीचे।

उसे हँसी आ गई।

प्रज्ञा ने उसे हँसते देख लिया—'आर्ये, यह शिक्षमाणा हँसती है। इसे विनय की शिक्षा देना कठिन है। यह अविश्वासिणी है।' उसने किंचित् क्रोध भरे शब्दों में कहा।

'अविश्वास पाप है।' वृद्धा बोली—'और पाप सम्यक् बुद्धि को नष्ट कर देता है।'

वह इरावती के पास चली गई। उसे ऊपर से नीचे देखती हुई, उसके निष्कलंक सौन्दर्य को निहारती हुई। एक क्षुद्र निःश्वास निकल गया। उसने सोचा—अभी इसकी आयु ही क्या है? अभी निरी लड़की है। अभी यह शील और संयम की सीमाएँ क्या जाने। युवती शिक्षमाणाओं से उसे चिढ़ थी। ये छोकरियाँ संघ में द्वेष और कामना के बीज बो देती हैं और भिक्षु चंक्रम का चक्कर काटते रहते हैं। अभी उस दिन एक तरुण भिक्षुणी विहार के पीछे एक तरुण भिक्षु के साथ प्रेमालाप करती हुई पकड़ी गई थी। महास्थविर ने उसे कई दिन तक एकांतवास का दण्ड दिया, परन्तु जब एक सप्ताह बाद उसे निकालने के लिए शीलगृह का द्वार खोला गया, तब वह गायब थी। प्रेमी भिक्षु उसे निकाल ले गया। प्रतिदिन संघ में इस प्रकार की घटनाएँ हो चली थीं और धर्मपालिका का मन तरुण-तरुणियों के प्रति घृणा से भर गया था। इरावती के सम्बन्ध में भी वह जान चुकी थी कि वह राजाज्ञा से यहाँ है। अर्थ स्पष्ट था। विहार सम्राट् के रङ्गमहल का प्रवेशद्वार

हो रहा था। दूर-दूर से धर्मामात्य की आज्ञा से युवतियाँ कुक्कुटाराम में लाई जातीं, कहा जाता, इन्हें शील-संयम की शिक्षा देनी है। परन्तु एक दिन उन्हें छोटे से अपराध में भिक्षुसंघ से अलग कर दिया जाता और राजा के अधिकारी उन्हें ले जाते। तब वे या तो सुगांगेय प्रासाद की शोभा बढ़ातीं, या अधिकारियों की भोगलिप्सा की वस्तु बनतीं, या वेश्या बनकर रूप की हाट में बैठतीं।

उसने कहा—'पुत्री, तुम्हारे सामने जीवन के प्रलोभन आयेंगे, उनसे लड़कर ही तुम बुद्ध की शांति का मार्ग ग्रहण कर सकोगी। इन प्रलोभनों के पार ही शान्ति का स्वर्णदेश है। अतः, शील और संयम से रहना।'

प्रज्ञा मुस्कराई।'

इरावती ने बल बटोर कर कहा—'शील और संयम की सीमा क्या है, आर्य!'

वृद्धा ने उत्तर दिया—'यह प्रश्न तुम महास्थविर से करना। परन्तु जो उन्होंने हमें बताया है, वह यही है। सुख की आशा छलना है। इसका फल है अतृप्ति। अतृप्ति का अर्थ है दुःख। दुःख अशान्ति का कारण है। अतः सुख की प्रवंचना को दूर रखना ही ध्येय है। इसी से शील और संयम का उपदेश है।'

जब दोनों चली गईं, तो इरावती देर तक सोचती रही। अन्त में उसने स्थिर किया, वह वासना के महान जल-संपात पर संयम की कठोर शिला धर देगी। जीवन की एक झाँकी थी उल्लास। महाकाल के मन्दिर में देवमूर्ति के सामने उसने आनन्द और उल्लास का उच्छृंखल नर्तन देखा था। अब वह देखेगी अनात्म के उपासकों के बीच संयम और शील की मरुस्थली। वह हृदय को सूखने देगी। सुख के आश्रय मन को ही नष्ट करना यदि लक्ष्य है तो वह मन को अग्निमित्र की ओर से एकदम हटा लेगी।

उसमें इतना महान् परिवर्तन हो गया कि बाहर शरत्-पूर्णिमा के

केतकी-हास की ओर भी उसमें जरा-सा आकर्षण न रह गया। परन्तु इस विराग में भी एकान्त कक्ष उसे छलने लगा। उसने सोचा, चलो, चंक्रम तक तो कोई बाधा है नहीं। ज़रा घूम लूँ। संयम और शील के इन उपदेशों को दृढ़ कर लूँ। फिर लौटकर देखूँगी, नींद आती है या नहीं।

एक विशाल स्फटिक-शिला पर बैठकर वह वृद्धा के उपदेशों पर विचार करने लगी। उसने नारी-जीवन की सार्थकता के सम्बन्ध में सोचा। मालवों और बौद्धों के सम्बन्ध में भी सोचती रही। तभी एक तीर उसके पैरों को छू गया। इरावती काँप उठी। उसमें बँधे हुए भूर्जपत्र की ओर उसने शङ्का से देखा। वहाँ कोई नहीं था। खोल कर चाँदनी के प्रकाश में उसने पढ़ा—

अग्निमित्र !

उसे जैसे बिजली मार गई। क्या अग्निमित्र मगध आ गया? क्या वह उसके साथ-साथ है? क्या उसे पता लग गया, वह सम्राट् की आज्ञा से यहाँ है? उसके हृदय में फिर घात-प्रतिघात भरने लगे। उसके मन ने कहा—अभी संघ की शरण जाने का समय नहीं आया है। अभी समय है।

वह जानती थी, चंक्रम से बाहर प्राचीर से सटे हुए किसी शाल्मलि के वृक्ष पर से अग्निमित्र ने उसे लक्ष्य कर तीर छोड़ा है। इस तीर ने एक ही प्रहार में उसके शील और संयम के भावों को इस तरह उड़ा दिया, जैसे झंझा रुई के ढेर को छितरा देता है।

तभी उसे खोजती हुई प्रज्ञा आई। उससे कहा—'शिक्षमाणा, तुम यहाँ अकेली बैठी क्या करती हो?'

'मैं शील और संयम के विषय में सोचती थी, आर्ये।'

'चंक्रम तरुणी शिक्षमाणा के लिए सबसे सुरक्षित स्थान नहीं है, इरावती!'

'भन्ते ! मन से अधिक चंचल शत्रु तो कोई नहीं और एकान्त कक्ष में भी वह शत्रु तो रहता ही है।'

'भीतर चलो, शिक्षमाणा !'

इरावती बोली नहीं। वह एक वेगवती भावधारा में बही जा रही थी।

उसने कहा—'आज्ञा हो, भन्ते ! तो इस एकान्त चंक्रम पर थोड़ा नृत्य कर लूँ। महाकाल के मन्दिर में शरत्-पूर्णिमा में मैं सदा नृत्य करती रही हूँ।'

और जब तक वह उसे रोके-रोके, मत्त-मयूरी की भाँति वल्कल वस्त्रों को फैला इरावती धीर मन्थर गति से नृत्य करने लगी। आश्चर्य-चकित हो, प्रज्ञा उसके सुगठित अङ्गों का आनन्द-नृत्य देखने लगी। इरावती अपने को भूल गई, प्रज्ञा को भूल गई, बौद्ध विहार की मर्यादा भूल गई और उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग से मादन-भाव जाग उठा। प्राचीर से बाहर किसी शाल्मलि से अग्निमित्र उसे देख रहा होगा, आज वह उससे पूरा-पूरा बदला लेगी। कैसे अपार्थिक सौन्दर्य को ठुकरा कर उसने महान् भूल की है, आज वह भी समझे। अविकसित कुमुदिनी पर पत्थर की कठोर शिला तुमने उस दिन रख दी थी। अब वही कुमुदिनी शिला फोड़ कर बाहर निकल आई है और इस चाँदनी रात में अपने अभिसार के लिए उसने अपनी सारी पँखुड़ियाँ खोल दी हैं।

चंक्रम पर भिक्षु-भिक्षुणी इकट्ठे हो गए थे। उनके लिए वह नृत्य आश्चर्य-घटना मात्र था। सब जैसे स्तब्ध हो इरावती को पी रहे थे। नील सङ्घाटी का छोर पकड़े इरावती तारों भरे आकाश की ओर ताकती हुई मत्त-मयूर का अभिनय कर रही थी। भिक्षु-भिक्षुणियों ने पाप-भावना से दाँतों-तले उँगली दी।

उपास्थोगार में प्रवारणा समाप्त हो गई थी और भिक्षुसंघ लौट रहा था। उसी समय यह आश्चर्य-समाचार स्थविर को सुन पड़ा। क्रोध से

उनकी भवें तन गईं। उन्होंने प्रधान भिक्षुणी धर्मपालिता को बुलाकर कहा—'सुनती है, आर्ये ! विहार में यह अनाचार !'

'हाँ, भन्ते ! यह नई शिक्षमाणा राजाज्ञा से यहाँ आई है।'

स्थविर ने क्रोध से कहा—'वज्र-सत्व का वज्र इन मूर्ख मौर्यों पर गिरे। धर्मामात्य ने बौद्ध विहारों और संघारामों को नारकीय सम्राटों का रङ्ग-महल बना दिया है। अब राजाज्ञा से भेजी हुई कोई भी युवती हम शिक्षमाणा के रूप में ग्रहण नहीं करेंगे।'

वह भिक्षु-भिक्षुणियों के एक बड़े दल के साथ चंक्रम की ओर चले। श्रम की बूँदें पूर्णचन्द्र के आलोक में उसके मुख पर मोतियों की तरह झलक रही हैं। कैसा था वह दृश्य ! क्रोध और क्षोभ भूल कर भिक्षु-भिक्षुणियाँ कला का वह सर्वश्रेष्ठ सम्मोहन चित्र देखने लगे।

सहसा नृत्य रुक गया। भावावेश से वह शिथिल हो गई थी। शीघ्र ही भिक्षुणियों ने उसे घेर लिया।

महास्थविर ने पूछा—'शिक्षमाणा, तुमने ऐसा क्यों किया ?'

इरावती ने धीरे-धीरे संयत होते हुए कहा—'रहने दो, भिक्षु ! तुम कला और आनन्द के मर्म को क्या जानो ? तुमने अनात्म को वरण किया है। तुम पाखण्डी हो। मैं इस पाखण्ड-भवन में रहना नहीं चाहती। तुम मेरा गला घोंट रहे हो। तुम आनन्द की उपासिका कला-कर्त्री इरावती को शील और संयम का पाठ नहीं पढ़ा सकते !'

वह रो उठी। शिथिल होकर वह गिरने लगी। प्रज्ञा ने उसे गोद में ले लिया और अपने वस्त्र के छोर से उसे हवा करने लगी। स्थविर के संकेत पर भिक्षु-भिक्षुणियाँ चुप-चुप विहार को लौटने लगे। चलते हुए स्थविर ने कहा—'यह लड़की शील और संयम का पाठ नहीं सीख सकती। धर्मामात्य को लिखना होगा। संघ में इसके लिए स्थान नहीं है।'

रोते हुए इरावती ने कहा—'भन्ते ! मुझे क्षमा करें। मैं कहीं जाना

नहीं चाहती। मैं श्रीचरणों में रहकर शील और संयम की शिक्षा लूँगी। अपशब्दों के लिए भन्ते ! मुझे क्षमा करें।'

'तुम्हारा कल्याण हो'—स्थविर के नेत्रों में व्यङ्ग की हँसी जल उठी।

१६

धनदत्त की पत्नी मणिमाला में रसिकता की मात्रा विशेष बढ़ी-चढ़ी थी। साधारण रूप से देखने से ही कोई उसे सुन्दरी कह लेगा। अभी यौवन की सीढ़ी पर प्रथम चरण ही रखा है। धनदत्त की तरह न वह कृपण है, न गम्भीर। उसके लिए जीवन हास-विलास की वस्तु है। पति की गम्भीरता से उसे चिढ़ है और कभी-कभी पति-पत्नी में जरा-जरा-सी बात पर ठन जाती है। व्यवहार-कुशल श्रेष्ठि उसे मणि-माणिक में बहलाना चाहता है, परन्तु युवती मणिमाला धन को तृणवत समझती है। वह समस्त जीवन का उपभोग करना चाहती है। धनदत्त की पहली पत्नी का देहान्त हुआ था, तो वह सोचा करता था, वह यों ही रह जायगा। सन्तान उसे कोई है नहीं। होने की आशा भी क्या है ? तब क्यों वह झंझट में पड़े। परन्तु समाज के अंकुश को मान कर उसने विवाह कर लिया। वधू के रूप में आई मणिमाला। गम्भीरता का उसमें नाम नहीं। वह धनदत्त के मणिहीरक को खेल की वस्तु नहीं समझती, प्रौढ़ धनदत्त स्वयं उसके लिए क्रीड़ा की वस्तु से कम नहीं था। वर्ष के कई महीने धनदत्त अपने रत्न और स्वर्ण भंडारों की रक्षा के लिए देश-विदेश घूमा करता और भृत्य आजीवक के साथ मणिमाला पाटलिपुत्र में अकेली पड़ी रहती। दास-दासियों के विशाल समुदाय में घिरे-घिरे भी

उसका जी ऊब जाता। कितना निर्जीव, निरापद है यह जीवन! जब धनदत्त पाटलिपुत्र में रहता तब भी उसे अपने पण्य से ही अधिक काम रहता। कभी-कभी इस बात के लिए मणिमाला आड़े हाथों भी लेती। वह व्यङ्ग से कहती—'महाश्रेष्ठि, तुमने तो रत्नमंजूषा से ही सप्तपदी पढ़ ली होती।'

और वह चंचला ठहाका मार कर हँस देती। पीड़ित-जैसे भाव से धनदत्त उसकी ओर देखकर केवल मुस्कुरा देता।

पाटलिपुत्रकी संध्या उन दिनों सारे देश में प्रसिद्ध थी। पाटलिपुत्र जैसा समृद्ध नगर उन दिनों उत्तर भारत में एक भी नहीं था। भिन्न-भिन्न देशों के पण्य से पूर्ण, रत्नभंडारों का आगार, मौर्य साम्राज्य का प्रधान नगर जहाँ से कुसुमपुरी का वैभव संचालित होता था। अभी दीपक नहीं जले थे। गोधूलि की वेला थी। धनदत्त पण्य में क्रय-विक्रय कर रहा होगा, जैसे यौवन की सारी सार्थकता धन में ही समाप्त हो जाती हो। आजीवक मणिमाला का मुँहलगा भृत्य था। उसने उसे रथ सजा लाने की आज्ञा दी।

जब वह रथ में बैठ कर पाटलिपुत्र के विलास भवनों को पार कर रही थी, गोधूलि-वेला बीत चुकी थी और स्थान-स्थान पर उल्का-मुखियाँ जल चुकी थीं। पाटलिपुत्र स्वर्गनिकेतन बन रहा था। मन स्वस्थ करने के लिए वह नगर के बाहर अशोक के प्रासादों और प्रलयकूप तक गई। अशोक के हर्म्य-प्रासाद अब भी उसी तरह वैभव में जगमगा रहे थे, परन्तु राजपरिवार अब सुगांगेय प्रासाद में ही रहता था। अन्य प्रासाद एक तरह से उपेक्षित थे। प्रलयकूप के चारों ओर संध्या विहार के लिए आये हुए नर-नारियों की बड़ी भीड़ थी। उस समय प्रेमी-प्रेमिकाओं के एकांत-मिलन के लिए प्रलयकूप और उसके आसपास के कुंज-उद्यान प्रसिद्ध थे।

भृत्य आजीवक ने मणिमाला के कहने पर रथ रोक दिया। उसकी

दृढ़ बाहुओं का सहारा लेकर तरुणी मणिमाला उतरी और रत्नाभूषणों की वर्णच्छटा से दर्शकों के मन को मोहती हुई एक कुंज की ओर चली। आज दिन भर के मानसिक संघर्ष के बाद उसका मन उदास हो रहा था।

आजीवक ने पूछा—'देवी मणिमाला के लिए पान चाहिये?'

'नहीं'—मणिमाला ने छोटा-सा उत्तर दिया। एक कृत्रिम झील के पास बिछी स्फटिक-शिला पर लेट कर वह हाथ से पानी उछालने में संलग्न हो गई। देर तक वह इसी तरह चुप खेल करती रही।

'आज स्वामिनी उदास हैं।' आजीवक इस कठोर वातावरण से ऊब चला था।

'हाँ'—मणिमाला ने चंचलता से अंजलि में जल ले उस पर उछाल दिया। 'क्षमा देवी, क्षमा देवी!' कहते हुए आजीवक ने [illegible] किया।

मणिमाला गंभीर हो गई। उसने कहा—'आजीवक, तुम [illegible] को यह समझा नहीं सकते, कि पण्य ही सब कुछ नहीं है, जीवन में कुछ और भी है।'

आजीवक ने व्यङ्ग से कहा—'स्वामिनी, क्या जीवन में और कुछ भी है जो वैदूर्य-मानिक से तौला नहीं जा सकता। [illegible] इस बात को नहीं जानते।'

मणिमाला बोली—'मैं इस जीवन से ऊब गई हूँ। [illegible] और मोती-मानिक से भरी हुई देव-मन्दिर में [illegible] नहीं चाहती। चाहती हूँ जीवन का [illegible], [illegible] का [illegible] हुआ [illegible], [illegible], एक सर्वग्राही निर्वाण। अब और जीवन के [illegible] [illegible] मुझे नहीं चाहिये।'

तभी उधर से एक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]—मणिमाला ने कहा।

आजीवक ने ब्रह्मचारी को बुला लिया। 'कौन हो तुम जी ? त्याग, और विराग के आडंबर में तुम्हें क्या मिलता है ? तुमने यह भेष क्यों बनाया है।'

संन्यासी ने कहा—'तुम इसे जान कर क्या करोगी कि मैं कौन हूँ। मैं अनात्म का उपासक बौद्ध नहीं हूँ। देखती हो न, मैंने त्रिचीवर नहीं पहन रखा है। मैं महाकाल का उपासक मालव हूँ।'

'ओः ! मालव तरुण बड़े सुन्दर होते हैं'—'मणिमाला ने उसे पास के स्फटिक पर बैठने का संकेत करते हुए कहा—'संन्यासी, इस वेष में यौवन की उपेक्षा नहीं छिपी है क्या !'

संन्यासी ने कहा—'तुम श्रेष्ठि-कन्या या श्रेष्ठि-आर्या जान पड़ती हो। तुम त्याग और विराग की कठिन तपस्या की बात क्या जानोगी ! मुझे जाने दो। मैं आनन्द का मंत्र जपने वाला संन्यासी हूँ। बौद्धों ने दुःख और प्रताड़न को जीवन का प्रथम सत्य बता कर जनता को अकर्मण्य बना दिया है। हम आनन्द और कर्म के शतशः स्रोत खोलने का आदेश देते हैं। हम कहते हैं—दुःख नहीं है। वेदना नहीं है। सब छल है। दुःख के पीछे सुख का जो महास्रोत नीचे-नीचे बह रहा है, उसे तुमने समझा नहीं है। तुम आर्यों के कठिन कर्मठ जीवन को भूल कर आत्म-अनात्म, जीव-अजीव, सत्य-असत्य के पचड़े में पड़ गये हो। सामने आओ। जीवन में जो भी सुन्दर है, आनन्दमय है, वह महाकाल की लीला है, महाकाल के प्रसाद के रूप में उसी को स्वीकार करो। इसी में तुम्हारी सार्थकता है।'

आनन्द का यह सन्देश मणिमाला को अच्छा लगा। उसने कहा—'तरुण संन्यासी, तुम्हारी बात ठीक जान पड़ती है। कुछ दिन के लिए तुम हमारा आतिथ्य स्वीकार कर लो। श्रेष्ठि धनदत्त को तुम प्रभावित कर सको, उनके जीवन में यदि तुम आनन्द के स्वर ला सको, तो उनकी यह पत्नी मणिमाला तुम्हारी चिरकृतज्ञ रहेगी। बोलो, युवक !'

सकते। तुम्हारे जीवन का स्रोत सूख गया है। शुष्क शैवाल जाल से अधिक इसमें क्या है? तुमने स्वतंत्र प्रकाश और स्वतंत्र वायु का सेवन छोड़ दिया है। तुम्हारे परण तुम्हें सोने-हीरों की जंजीरों से जकड़े हुए हैं। तुम कापुरुष हो। देखते नहीं, यवन तुम्हारी ओर लोलुप दृष्टि लगाये हैं। दिमित्र मथुरा में है। बलख को छोड़ कर मिलिन्द शाकल आ गया है। उसने दिमित्र (देवमित्र) को मथुरा से बुलाया है। शीघ्र ही पाटलिपुत्र के विरुद्ध यवन-अभियान होगा। यही बौद्ध इस देश को विदेशियों के हाथ में सौंप देंगे। परन्तु मुझे क्या? मैं चलता हूँ। महाकाल की जय! महानन्द की जय!'

और आनन्द की भेरी बजाता हुआ वह 'वह लो, वह लो' आँधी की तरह चला गया।

धनदत्त ने एक क्षण बाद कहा—'पाटलिपुत्र के बुरे दिन आ गये हैं। इन पाखंडों के मारे जीना कठिन है। मणिमाला, मैं तुम्हें एक दिन आचार्य धर्मरक्षित के पास ले चलूँगा। वे अब नालंदा से यहाँ आ गये हैं। अशोकाराम विहार में उनका वास है। वह तुम्हें शांति दे सकेंगे।'

'क्या सचमुच?'—उसकी बाहुओं पर बल से रथ की ओर बढ़ती हुई मणिमाला मंद अट्टहास कर उठी।

धनदत्त अप्रतिभ हो गया। मणिमाला के प्रति उसके मन में कुंठा भर गई। परन्तु वह कुछ बोला नहीं। चंदन ने घोड़ों की रास सँभाली। आजीवक भृत्य के स्थान पर पीछे चढ़ा। धनदत्त और मणिमाला पास-पास बैठे। रथ राजप्रासादों को पार कर काष्ठ-प्राचीर के साथ-साथ श्रेष्ठि-चत्वरों की ओर बढ़ने लगा। पाटलिपुत्र उस समय विलास और वैभव के स्वप्नों में डूबा हुआ था। रात का पहला प्रहर समाप्त हो रहा था।

'अच्छा ! महाकाल के उपासक भी पाटलिपुत्र में आने लगे ! इन हीनयानियों और महायानियों से यह नगरी भरी पड़ी थी। दुःख और विषाद की नदी यहाँ उमड़ रही थी। अब आनन्द के उपासक भी आ जायें !'

'तुम ठीक नहीं समझे श्रेष्ठि ! एक दिन तुम्हें भी आनन्द की अभ्यर्थना करनी होगी।'

'चुप रहो'—चिढ़ कर धनदत्त बोला—'आनन्द, आनन्द, आनन्द ! तुम्हारा नाम क्या है ?

'आनन्द !'

'तुम उच्छृङ्खल भी हो ?'

मणिमाला को यह व्यवहार बुरा लग रहा था। उसने कहा—"इस तरुण संन्यासी को मैंने निमंत्रण दिया है।'

'वह तो ढोंग है, महाढोंग'—धनदत्त चिल्ला उठा—'आजीवक, निकाल दो इस पाखंडी को यहाँ से। मणिमाला तुम क्या मेरे प्रासाद को निकम्मे, कुक्कुर-व्रतियों और विड़ाल-व्रतियों से भर दोगी ? मुझे नहीं चाहिये इसका आनन्द का सन्देश !'

मणिमाला ने उसे शान्त किया। उसने कहा—'मैं इसे निमंत्रण नहीं देती, परन्तु तुम्हीं बताओ तुमने मेरे जीवन में क्या सुख सँजो रखा है ? यह कहता है, सारी सृष्टि में आनन्द का महाश्रोत बह रहा है।'

'यह झूठा है !' उसकी आँखों में से आँखें बचा कर धनदत्त चिल्ला उठा।

संन्यासी के होंठ हँसी से खिल उठे। उसने चलते हुए कहा—"तुम पाटलिपुत्र के नागरिक, महाकाल के महासन्देश को नहीं समझ

विशेष प्रसिद्धि हुई। जब से उसने वाद-विवाद में पूरण कश्यप और मक्खलि गोसाल को पराजित किया था, तब से उसकी प्रसिद्धि और भी अधिक हो गई थी।

उन दिनों संघ का चक्र आचार्य धर्मरक्षित के हाथ में था। नागसेन आचार्य धर्मरक्षित का पट्ट शिष्य था। एक दिन आचार्य ने नागसेन को बुला भेजा। नागसेन ने आकर अभ्यर्थना की। आचार्य ने कहा—'वत्स नागसेन, अब तुम्हारे लिए तथागत के उपदेशों में से कोई भी गुप्त नहीं रह गया। जब तुम वर्तनीय के अश्वगुप्त के भेजे हुए मेरे पास आये थे, तब तुम्हारी प्रतिभा को पहचान कर मुझे तुमसे स्नेह हो गया था। अब देखता हूं, मेरा स्नेह व्यर्थ नहीं गया।'

नतमस्तक होकर नागसेन ने कहा—'आचार्य साक्षात् बुद्ध हैं। आपकी अनुकम्पा से जो मुझे प्राप्त हुआ है वह आपका ही है।'

'ठीक है, वत्स!' आचार्य ने कहा—'तुम पंचनदवासी हो न!'

'सच है, भन्ते! मैं कजंगल ग्राम का सोनुत्तर ब्राह्मण हूं। विद्वान भिक्षु रोहण ने मुझे भगवान बुद्ध का तेज दिखाया। उनके साथ मैं विजम्भवस्तु होते हुए हिमालय में रक्षिततल पहुंचा। वहां मैंने सारा बौद्ध वाङ्मय पढ़ा। वहीं भिक्षु रोहण ने मुझे आचार्य अश्वगुप्त को सौंपा। उन्होंने आपके श्रीचरणों में भेजा।'

'ठीक है, वत्स! तुम सच कहते हो। क्या तुम संघ के ऋण से मुक्त होना चाहते हो?'

'आज्ञा करें, भन्ते!'

'संघ तुम्हें तुम्हारे देश भेजना चाहता है। नागसेन! राजा मिलिन्द वाद-विवाद में प्रश्न पूछ कर भिक्षु-संघ को तङ्ग करता है। जाओ, तुम उस राजा का दमन करो।'

'यवन निरंकुश है, भन्ते।'

२०

यवन-राज्य की दो राजधानियाँ थीं—बलख (वाह्लीक) और शाकल। वच्छुतट से लेकर यमुनातट, सौराष्ट्र, सिंध और पंचनद तक इस राज्य का विस्तार था। शाकल भारत के यवन-व्यवसाय का केन्द्र था। वह एक उत्तम नगर था। उद्यानों, आरामों, तड़ागों, उपवनों और पुष्करिणियों से संपन्न इस नगर की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। सिंह-पौर विशाल और सुन्दर था। नगर के चारों ओर खाई थी और उसके पीछे प्राचीर। सारा नगर सुव्यवस्थित ढङ्ग से बसा हुआ था। उसमें दान-शालाएँ थीं और राजपथों और पण्यों में नागरिकों की चहल-पहल रहती थी। वह विद्वानों का केन्द्र था। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, श्रमण, गणाचार्य सभी शाकल की शोभा बढ़ा रहे थे। काशी-कोटुम्बर के वस्त्र, सिंहल के रत्न, द्वारसमुद्र के मानिक, कन्नौज के इत्र, गांधार के अश्व—यहाँ क्या नहीं था? उत्तर भारत में पाटलीपुत्र को छोड़ कर और किसी भी नगर की इस समय इतनी शोभा नहीं थी। यह पंचनद प्रदेश उत्तर कुरु-सा उपजाऊ और अलकनंदा और देवपुर-सा संपन्न था। इसके प्रधान नगर होने के कारण शाकल की महत्ता थी।

उन दिनों यवन-सम्राट् (मिनान्दर) मिलिन्द का शासन था। देवमित्र (दिमित्र) उनका प्रधान मन्त्री था। मिलिन्द पहले गांधार प्रदेश का उपरिक मात्र था, परन्तु धीरे-धीरे उसने भारतीय प्रान्तों पर विजय प्राप्त की, यवन-राज्य का विस्तार किया और महाराज कहलाने लगा। धार्मिक जिज्ञासा उसमें प्रबल थी और लगभग सारे यूनानी विज्ञान-विदों और दार्शनिकों के मत उसे कंठस्थ थे। अतः भारतीयों में उसकी

'क्या ये रोम (रोएँ) नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज !'

'ये नख, दंत, चमड़ा, मांस, स्नायु, हड्डी, मज्जा, वुक्क, हृदय, यकृत, क्लोमक, प्लीहा, फुफ्फुस, आँत, पतली आँतें, पेट, पित्त, शौच, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद, आँसू, चर्बी, राल, नासामल, मस्तिष्क नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज !'

'तब क्या आपका रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार या विज्ञान नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज !'

'तो क्या रूप-विज्ञान सभी एक साथ नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज !'

'तो क्या रूपादि से भिन्न कोई नागसेन हैं ?'

'नहीं महाराज !'

'भन्ते ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु नागसेन क्या है इसका पता मैं नहीं लगा सका। तो क्या नागसेन केवल शब्दमात्र है ? आखिर नागसेन है कौन ?'

'महाराज ! क्या आप पैदल चल कर यहाँ आये या किसी सवारी पर ?'

'भन्ते ! मैं रथ पर आया।'

'महाराज ! तो मुझे बतायें कि आपका 'रथ' कहाँ है ? क्या ईषिका (ईषा) रथ है ?'

'नहीं भन्ते !'

'क्या अक्ष रथ है ?'

धर्मरक्षित हँसे। 'डरो मत, वत्स! नागसेन; बुद्ध के धर्म में कायरता को स्थान नहीं मिलता! यवन दर्शन के पंडित हैं, अतः तुम्हारे जैसे विद्वान का ही वहाँ जाना ठीक है।'

'तो, भन्ते! मैं महाराज मिलिन्द को भगवान बुद्ध का अलौकिक पंथ दिखलाने में समर्थ हो सकूँगा।'

संघ के आदर्श को शिरोधार्य कर नागसेन शाकल पहुँचे और असंखेय्य परिवेण (मठ) में रहने लगे। यहीं उन्हें आचार्य आयुपाल मिले। वह मिलिन्द से अभी-अभी परास्त हो चुके थे। परन्तु नागसेन संघ का पत्र लाये थे और स्वयं आचार्य धर्मरक्षित का आशीर्वाद उनके साथ था। नागसेन के आने का समाचार शाकल के राजमार्गों और पण्यों तक में पहुँच गया और लोग उनके दर्शनों को उमड़ पड़े। महाराज मिलिन्द ने दिमित्र को नागसेन के पास भेजा और उनकी अनुमति पा कर पाँच सौ यवनों के साथ अच्छे रथों में बैठ कर असंखेय्य परिवेण में आया। दूसरे दिन उसने राजभवन में नागसेन को निमंत्रित किया।

मिलिन्द ने पूछा—'भन्ते! आप किस नाम से जाने जाते हैं?'

'मुझे नागसेन नाम से पुकारते हैं। किन्तु यह केवल व्यवहार के लिये संज्ञा भर है, क्योंकि यथार्थ में ऐसा कोई एक पुरुष नहीं है।'

'भन्ते! यदि एक पुरुष नहीं तो कौन आपको वस्त्र-भोजन देता है? कौन उसको भोग करता है? कौन शील की रक्षा करता है? कौन ध्यान करता है? कौन अभियान के फल-निर्वाण का साक्षात्कार करता है? यदि ऐसी बात है तो न पाप है और न पुण्य, न पाप और पुण्य का कोई करने वाला है......न कराने वाला है। न पाप और पुण्य का फल होता है। यदि आपको कोई मार डाले तो किसी का मारना नहीं हुआ। नागसेन क्या है? क्या ये केश नागसेन हैं?'

'नहीं महाराज!'

'नहीं भन्ते !'

'क्या चक्के रथ हैं ?'

'नहीं भन्ते !'

'क्या रथ का पंजर रस्सियाँ, लगाम, चाबुक रथ हैं ?'

'नहीं भन्ते !'

'महाराज ! क्या हरीस आदि सभी एक साथ रथ हैं ?'

'नहीं भन्ते !'

'महाराज ! मैं आपसे पूछते-पूछते थक गया किन्तु यह पता नहीं लगा कि रथ कहाँ है ! क्या रथ केवल शब्द मात्र है ! आप झूठ बोलते हैं कि रथ नहीं है। महाराज ! सारे पश्चिमी जम्बू द्वीप के आज राजा हैं, भला किससे डर कर आप झूठ बोलते हैं ?'

और आचार्य के होंठों पर मंद मुस्कान फैल गई।

'भन्ते नागसेन ! मैं झूठ नहीं बोलता। हरीस आदि रथ के अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए रथ ऐसा नाम बोला जाता है।'

'महाराज ! बहुत ठीक। आपने जान लिया कि रथ क्या है। इसी तरह मेरे केश आदि के आधार पर केवल व्यवहार के लिए नागसेन ऐसा एक नाम बोला जाता है। परन्तु परमार्थ में 'नागसेन' कोई एक पुरुष विद्यमान नहीं है। भिक्षुणी वज्रा ने भगवान के सामने इसीलिए कहा था—'जैसे अवयवों के आधार पर रथ संज्ञा होती है, उसी प्रकार स्कंधों के होने से जीव समझा जाता है !'

मिलिन्द ने दार्शनिकता की शरण लेनी चाही। उसने गम्भीर होकर कहा—"महाराज, 'जान लेना' विज्ञान की पहिचान है, 'ठीक से समझ लेना' प्रज्ञा की पहचान है; और 'जीव' ऐसी कोई चीज नहीं है।"।

'भन्ते ! यदि जीव कोई चीज नहीं है, तो हम लोगों में वह क्या

है जो आँख से रूपों को देखता है, कान से शब्दों को सुनता है, नाक से गंधों का सूँघता हैं, जीभ से स्वादों को चखता है, शरीर से स्पर्श करता है और 'मन' में धर्मों को जानता है।'

'महाराज! यदि शरीर से भिन्न कोई जीव है जो हम लोगों के भीतर रह आँख से रूप को देखता है, तो आँख निकाल लेने पर छेद से उसे और भी अच्छी तरह देखना चाहिये।'

'नहीं भन्ते! ऐसी बात नहीं है।'

'महाराज! तो हम लोगों के भीतर कोई जीव भी नहीं है।'

मिलिन्द ने नई चर्चा चलाई—'आत्मा के न मानने पर किये गये भले-बुरे कामों की जिम्मेवारी तथा उसके अनुसार परलोक में दुःख-सुख भोगना कैसा होगा।'

'भन्ते! कौन जन्म-ग्रहण करता है?'

'महाराज! नाम और रूप...।'

'क्या यही नाम-रूप जन्म-ग्रहण करता है?'

'महाराज! यही नाम और रूप जन्म-ग्रहण नहीं करता। मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य करता है, उस कर्म के करने से दूसरा नाम-रूप जन्म-ग्रहण करता है।'

'भन्ते! तब तो पहिला नाम और रूप कर्मों से मुक्त हो गया?'

'महाराज! यदि फिर भी जन्म नहीं ग्रहण करे तो मुक्त हो गया; किन्तु, चूँकि, वह फिर भी जन्म-ग्रहण करता है, इसलिए मुक्त नहीं हुआ।'

'... उपमा देकर समझावें।'

'कोई आदमी किसी का आम चुरा ले। उसे आम का स्वामी पकड़ कर राजा के पास ले जावे। राजन्! इसने मेरा आम चुराया है।। इस पर वह कहे, नहीं, मैंने इसके आमों को नहीं चुराया है। इसने

जो आम लगाया था वह दूसरा था, और जो आम मैंने लिये वह दूसरे हैं। महाराज ! अब बतायें कि उसे सजा मिलनी चाहिए या नहीं ?"

'सजा मिलनी चाहिये।'

'सो क्यों ?'

'भन्ते ! वह ऐसा भले ही कहे, किंतु पहले आम को छोड़ कर दूसरे ही को चुराने के लिए उसे ज़रूर सजा मिलनी चाहिये।'

'महाराज ! इसी तरह मनुष्य इस नाम और रूप से पाप या पुण्य करता है। उन कर्मों से दूसरा नाम और रूप जन्मता है। इसलिए वह कर्मों से मुक्त नहीं हुआ।'

इसी तरह अनेक उपमाओं और उदाहरणों के साथ आचार्य नागसेन ने मिलिन्द को विश्वास दिया कि यह सारा जीवन एक महान् चेतना-प्रवाह है। प्रवाह की भाँति ही यह जारी रहता है। एक प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्त नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। इसी कारण न वही जीव है, न दूसरा ही हो जाता है। एक जन्म के अंतिम विज्ञान के लय होते ही, दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है।

मिलिन्द ने अब कर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा की। 'भन्ते ! जब एक नाम-रूप से अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं, तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं ?'

'महाराज ! कभी भी पीछा नहीं छोड़ने वाली छाया की भाँति वे कर्म पीछा करते हैं।'

'भन्ते ! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं ?'

'महाराज ! वे इस तरह नहीं दिखाये जा सकते। क्या कोई वृक्ष के उन फलों को दिखा सकता है जो अभी लगे भी नहीं ?'

इस प्रकार यह तर्क-वितर्क कई दिन चलता रहा। नागसेन के

व्यक्तित्व और उनकी विचारधारा का मिलिन्द पर इतना प्रभाव पड़ा कि उसने घोषित कर दिया कि वह बुद्ध-धर्म में दीक्षित होगा। दिमित्र ने उसका विरोध किया। उसने कहा—'देवपुत्र, हमारे यवन-दार्शनिकों में भी पिथागोर, हेराक्लितु, अनखागोर, देमोक्रितु, अफलातूँ और अरस्तू कम नहीं हैं। जो वे कह गये हैं, यह हिन्दू उसी का पिष्टपेषण करते हैं। इनमें जरा भी मौलिकता नहीं है। मैं तो इन्हें दम्भी मानता हूँ।'

मिलिंद ने मुस्कुरा कर कहा—'तुम इस कथन से बौद्धों को छोटा नहीं कर सकते। उन्होंने निश्चय ही दुःख और उसके निराकरण के उपाय को जान लिया है। हमारे दार्शनिकों के तर्क-वितर्क मन की उधेड़बुन हैं। वे जीवन को लेकर नहीं चले। संसार में चारों ओर जो व्यापक दुःखों का राज है, उन्हें लेकर चलने वाला दार्शनिक बुद्ध है।'

दिमित्र ने कुछ कुंठित होकर कहा—'परन्तु यह राजनीति नहीं है। देवपुत्र का अपालो और जिउस को छोड़ कर बुद्ध के प्रति श्रद्धा करना यूनानियों की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचायेगा।'

मिलिंद क्षण भर सोच में पड़ गया। फिर उसने धीरे से कहा—'मैंने जीवन भर सत्य की जिज्ञासा की। बड़े-बड़े धर्मग्रन्थों को मैंने छाना। देवपुत्र सिकन्दर जिस भारतीय साम्राज्य का स्वप्न देखता था, उसे यूनानियों के लिए मैंने पूरा किया। वक्षु से यमुना तक यवनों की विजय-पताका लहरा रही है। परन्तु अब जब एक महान सत्य ने मुझे दर्शन दिये हैं, तो उसे आँख की ओट करना ग्रीक-रक्त का अपमान करना न होगा?'

वह उत्तेजना में भर गया।

'कह दो, दिमित्र! चारों ओर देश-विदेश में सूचित कर दो,

सम्राट् मिलिन्द ने सत्य को पा लिया है। वह सत्व जिसे यूनानी दार्शनिक ढूँढ़ते थे, वह भगवान बुद्ध के पास है। मिलिन्द ने उस सत्य को स्वीकार कर लिया। उसने दुःख को सत्य मान लिया है और विराट् मानवता को उसके निराकरण का उपाय बताने वाले बुद्ध के प्रति श्रद्धांजलि दी है। आज से मिलिन्द बुद्ध की शरण जाता है। "बुद्धं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि"!

दिमित्र को यह सब भावुकता लगी। परन्तु उसने यही कहा—'देवपुत्र की आज्ञा का पालन किया जायगा।'

वह जाने लगा।

मिलिन्द ने उसे पुकारा—'नागसेन को सूचित कर दो, वह आचार्य धर्मरक्षित के लिए पत्र लिख दें। हमारे दूत इस पत्र को ले कर पाटलिपुत्र जायेंगे। हम आचार्य को शाकल बुलाना चाहते हैं। उन्हीं के हाथ से हम प्रवज्या लेंगे।'

२१

शिप्रातट से चल कर महर्षि पतंजलि एक मास बीतते-बीतते मथुरा पहुँच गये। वहाँ जाकर पता चला, मथुरा का विद्रोह समाप्त कर यवन-क्षत्रप आनन्द की नींद सो रहे हैं। दिमित्र शाकल चला गया है। जब से नागसेन के प्रभाव में आकर मिलिंद बौद्ध-धर्म में दीक्षित हुआ है, तब से बौद्धों का दर्प बढ़ गया है। वे जहाँ-तहाँ वासुदेव के भक्तों पर अत्याचार करने से भी नहीं चूकते। परन्तु जनता फिर भी आनन्द-

प्रधान वासुदेव धर्म की ओर बढ़ रही है। साधारण जनों में बौद्धों का प्रभाव कम हो रहा है।

उस दिन यवनों पर असफल आक्रमण के बाद कृष्णदेव, नागराज और उनके अनेक साथी छिप रहे थे। वे मथुरा में ही थे, परन्तु यवनों को उनका पता नहीं था। उनके चर बराबर खोज में थे, परन्तु सफल नहीं होते थे। पंतजलि के मथुरागमन का समाचार सुन कर माथुरों की आशा-बेलि फिर फूल उठी।

पतंजलि ने बृन्दावन के केलिकुंज में कृष्णदेव और नागराज से भेंट की। दोनों इस समय बौद्ध भिक्षुओं के भेष में थे। कृष्णदेव ने कहा—'आचार्य, वासुदेव-धर्म की बाढ़ को यवनों ने बाँध-बाँध कर रोक दिया है। यवन लोग बौद्धों से विशेष प्रभावित हैं। बौद्ध इन्हें निमंत्रण दे रहे हैं। यदि आर्य पुष्यमित्र का अभियान असफल रहा और मगध कुछ दिनों और मौर्यों की छत्रछाया में रहा, तो यह निश्चय है, सारा देश यवनों के चरण चूमेगा। गंगा-जमुना की पवित्र मर्यादा की रक्षा तब कैसे हो सकेगी ? बृन्दावन और मथुरा के केलिकुंज तब यवनों के विलास के शिकार होंगे। इसी से कहता हूँ, देव, वासुदेव-धर्म के उपासकों को शीघ्र ही खड्ग पकड़ना होगा। नहीं तो, आर्यों के इस पुण्य देश का भविष्य उज्ज्वल नहीं जान पड़ता।

पतंजलि ने उन्हें आश्वासन दिया—'तुम नहीं जानते कृष्णदेव। वैष्णव वासुदेव की ध्वजा एक बार फिर फहराने के लिए कितने लालायित हैं, यह मैं देख रहा हूँ। वह दिन निकट है, जब देश यवन-कष्ट से त्राण पा जायेगा। परतु अभी हमें बौद्धों के प्रति सतर्क रहना है।'

नागराज ने कहा—'आचार्य, बौद्ध तो अपने धर्म को सार्वभौम धर्म मानते हैं। वे इस देश को अपना देश नहीं समझते। देवप्रिय अशोक ने सिंहल, स्वर्णदीप, बालि, चीन और गांधार देश में बौद्ध भिक्षु-

भिक्षुणियाँ भेज कर एक प्रादेशिक धर्म को सार्वदेशिक बना दिया है। अब बौद्ध विदेश के बौद्धों को इस देश के बौद्धों की अपेक्षा अधिक निकट समझते हैं। अतः, बौद्ध यवन उनके अधिक निकट हैं। इस महान् देश के प्रति, इसके सूर्योदय और सूर्यास्त के प्रति, इसकी हिममंडित पर्वतराशि के प्रति, इसके नगरों के प्रति बौद्धों की श्रद्धा-भक्ति नहीं है। वह तो ब्राह्मणविरोधी मात्र रह गये हैं। एक बार फिर ब्राह्मणों को खड्ग उठानी होगी। तभी विश्वविश्रुत इस ब्राह्मण-सभ्यता का उद्धार हो सकता है।'

पतंजलि गंभीर हो गये। उन्होंने कहा—'वासुदेव की जय हो! मैं शीघ्र ही पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थान करूँगा। वहाँ यज्ञ का आयोजन हो चुका है। केवल हवि डालने वाले ऋत्विज (होता) की आवश्यकता है। यह वृद्ध ब्राह्मण इस कार्य को पूरा करेगा। आर्यों के इस प्राचीन देश को बौद्ध किन्हीं भी दामों पर यवनों के हाथ बेच नहीं सकेंगे।'

'हमारे लिए क्या आज्ञा है?' कृष्णदेव ने पूछा।

'तुम अभी यहीं रहो। यदि यवन मगध पर आक्रमण करें तो उनकी विशाल वाहिनी को गंगा-यमुना के काठे में बढ़ आने दो। जब मगध की वाहिनी आक्रमण करे तो पीछे हटते हुए यवनों के प्रति जनता के साथ विद्रोह का खड्ग उठाना तुम्हारा धर्म होगा। अभी तुम्हें प्रकाश में आने की आवश्यकता नहीं। जो जहाँ है, वह वहीं वासुदेव का सैनिक बन सकता है।'

उस दिन पतंजलि ने सारे मथुरा नगर में घूमकर वासुदेव के भक्तों को आश्वासन दिया। जहाँ-जहाँ वे जाते, श्रद्धाप्राण-वैष्णवों के हृदय उनके मार्ग में बिछ जाते। श्रेष्ठिभवनों, साधारण नागरिकों के गृहों, मन्दिर-भवनों, अतिथि-शालाओं में रह कर उन्होंने लोगों में एक बार फिर जागृति भर दी। वासुदेव की गरुड़ध्वजाएँ फिर मथुरा के स्वर्ण

मन्दिरों पर दिव्य छटा से फहराने लगीं। सातवत्तों के योजन-विशाल वासुदेव-मन्दिर में स्वर्ण के कीर्तिस्तंभ पर फिर मानिक-मूंगे का गरुड़ प्रतिष्ठित हुआ। संन्यासी, ब्राह्मणों और पुरोहितों के साथ वेदपाठ करते हुए विशाल समारोह के साथ महर्षि ने कीर्तिध्वजा की प्रदक्षिणा की।

परन्तु बौद्ध चुप नहीं बैठे रहे। उन्होंने मथुरा के यवन-उपरिक को सुझाया, पतंजलि नाम का ब्राह्मण यवनों के प्रति विद्रोह उभाड़ता स्वच्छंद घूम रहा है। स्वयं महास्थविर ने उनके पास जाकर इस अनाचार के बन्द करने की प्रार्थना की। पतंजलि उस समय श्रेष्ठि धनदास के घर थे। उन्होंने यवन-उपरिक को कहला भेजा—यवन-उपरिक इस बात को समझ लें। हमारे इस आर्य देश की यही परंपरा रही है कि भिन्न-भिन्न विचारों और धर्मों के प्रचारकों को स्वाधीनता बनी रहे। कोई किसी के पथ में न आये। देवप्रिय अशोक ने धर्मचक्र को राजचक्र के साथ करके सम्बन्धित एक नया वितंडावाद खड़ा कर दिया है। यदि बौद्ध इसी तरह यवनशासकों को जनता के धर्म के विरुद्ध खड़ा करते रहे तो एक दिन यह सारा छिन्न-भिन्न राष्ट्र एक सूत्र में आबद्ध हो एक मनुष्य की तरह उठ खड़ा होगा। तब इस देश के न होकर, अपने शक्ति के स्रोत-केन्द्रों से दूर यवन कब तक सुरक्षित रह सकेंगे। एक न एक दिन उनके प्रति विद्रोह का झंझानाद उठ खड़ा होगा। क्या यह अच्छा नहीं है, बौद्धों और हिन्दुओं को अपने-अपने मत के प्रचार के लिए स्वतन्त्र रहने दिया जाये।

परन्तु यह स्पष्ट हो गया कि बौद्ध नए ब्राह्मण धर्म के प्रति एक अखिल भारतीय मोर्चा बना रहे हैं। उन्हें पुष्यमित्र से डर था। वह अतिब्राह्मण के नाम से प्रसिद्ध था। मौर्यसाम्राज्य में सेनापति की महत्ता सम्राट् से भी अधिक थी। यह संभव था, सेना सेनापति का साथ दे, सम्राट् क्लीवपुरुष की भांति देखता रहे। मौर्य सम्राट् बृहस्पति

मित्र की दुर्बलता बौद्धों से छिपी नहीं थी। इसीसे वह पुष्यमित्र के षड्यंत्रों से भय करते थे। ब्राह्मण चाणक्य के सर्वभक्षी तेज की स्मृति अभी ताजी थी। नागर्द के ब्राह्मण आचार्य पतंजलि और पुष्यमित्र में कितना गहरा सम्बन्ध है, यह बौद्ध नहीं जानते। वे उन्हें महापंडित, सूत्रकार, वासुदेव-धर्म के समर्थक ब्राह्मण आचार्य के रूप में जानते हैं। उन्हें क्या पता था, एक दिन वह होगा जब यह कृष्णकाय ब्राह्मण देश में यज्ञयागों की स्वर्ण-शिखा फिर स्थापित करेगा, जब गरुड़ध्वज की फिर प्रतिष्ठा होगी और मथुरा, प्रयाग, पंचनद, गांधार, यहाँ तक कि वत्तु के तट पर भी वासुदेव के कीर्तिस्तंभ प्रतिष्ठित होंगे और यह सब इस वृद्धकाय भाषाविद के द्वारा होगा।

मथुरा छोड़ कर पतंजलि कान्यकुब्ज आये और वहाँ कई सप्ताह ठहर कर कौशाम्बी के लिए चल पड़े। कौशाम्बी से प्रतिष्ठान और प्रयाग होते हुए काशी। जहाँ-जहाँ वे गये, उनकी कीर्ति उनसे पहले पहुँच चुकी थी। जहाँ जाते, बौद्ध उनसे शास्त्रार्थ करते और परास्त होते। धीरे-धीरे पतंजलि की कीर्ति बौद्धों के लिए भय का विषय हो गई। वासुदेव-धर्म को एक योग्य नेता मिल गया था। बौद्धों में धर्मरक्षित और नागसेन-जैसे अनेक महापंडित थे, परन्तु वे लोकसेवा से अधिक स्वार्थ को देखते थे। उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई थी। दर्शन के जटिल-जाल में पड़ कर वे जीवन के सरल परन्तु महान् तत्त्वों को पूर्णतः भूल बैठे थे।

जब पतंजलि पाटलिपुत्र पहुँचे तो सेनापति पुष्यमित्र ने उनका राज-समारोह से स्वागत किया। जिन लोगों के स्मृतिकोष में प्राचीन घटनाएँ सुरक्षित थीं, वे कहते थे, इतना आयोजन पहले कभी नहीं हुआ था। नगर की ओर से एक सौ एक कुमारियों ने उनकी आरती उतारी और महान् जयघोष के साथ वह पाटलिपुत्र के प्रधान नगर-द्वार से भीतर लाये गये।

अग्रजिन की जिस प्रतिमा को सम्राट् नन्दवर्धन पाटलिपुत्र ले गये थे, उसका उद्धार होना निश्चित था, यही कलिंग-चक्रवर्ती सम्राट् खारवेल की नित्य चिंतना का विषय था। नन्द के समय में उत्कल या कलिंग जैन-धर्म का केन्द्र था और 'जिन' की मूर्ति पूजी जाती थी। कलिंग-जिन कलिंग के सम्मान की प्रतीक था। जब नन्दराज उसे मगध ले गया तो कलिंग जनपद के इस सम्मान को ठेस लगी। चेदि वंश के एक शासक अपनी वीरता के कारण प्रसिद्ध हो गये थे और तीसरे चेदिराज खारवेल से अग्रजिन की प्रतिमा लौटाने की आशा की जाती थी।

इस समय खंडगिरि (कुमारी-पर्वत) जैन-धर्म का केन्द्र बना था। यहीं पर धर्म-विजय-चक्र फिरा था। भगवान महावीर ने स्वयं उपदेश इसी स्थान पर दिया था। इसी पहाड़ पर एक काय-निषीदी (जैनस्तूप) था जिसमें पार्श्वनाथ के चिह्न और पादुका थी। इसी लिए पर्वत पार्श्वनाथ के नाम से भी प्रसिद्ध था। अब यह प्राचीन जैन-तीर्थ हो गया था। जैन-यात्रियों के चढ़ाए छोटे-छोटे स्तूप (चैत्य) वहाँ बन गये थे। पार्श्वनाथ-गिरि और भुवनेश्वर-तीर्थ जैन-धर्म से उसी प्रकार सम्बन्धित हो गये थे, जैसे बौद्ध-धर्म से सारनाथ और गया। खंडगिरि (उदयपर्वत) पर जैन-मन्दिर और जैन-साधुओं के लिए मठ स्वरूप गुफागृह बन चुके थे।

कलिंग-चक्रवर्ती मेघवाहन सम्राट् खारवेल ३० वर्ष के युवक थे।

२४ वर्ष की आयु में वे सिंहासह पर बैठे । उस समय कलिंग (उत्कल की राजधानी) जीर्ण-शीर्ण हो रही थी । मुख्य द्वार जीर्ण था । प्राचीरें पुरानी हो गई थीं । उन्होंने ऋषि-सिवीर में ताड़-तड़ाग और उपवन बनवाये । सातकर्णी की कुछ परवाह न करते हुए उनकी विजयी सेना दक्षिण में कन्हवेना (कृष्ण-वेना) पर पहुँची और उसने मूषिक नगर को त्रस्त किया । इस दक्षिण-विजय से खारवेल की कीर्ति देश-देशांतरों तक फैल गई ।

खारवेल गन्धर्ववेद के पंडित थे । वे डफ (दंप), नृत्य, गीत, वादिग (वाद्य-यंत्र) में निपुण थे । उनके शासन में उत्सवों और समाजों के लिए कलिंग की कीर्ति शाकल और गान्धार तक पहुँच गई । उन्होंने विद्याधराधिवास ठीक किया । प्राचीन कलिंग जनपद के भृङ्गार (राजसी चिह्न) अशोक के कलिंग युद्ध के समय से श्रीहीन पड़े थे । महामेघवाहन खारवेल ने उनका उद्धार किया । चारणों ने उनकी वंदना की । कवियों ने उनकी प्रशस्ति के सुन्दर गीत गाये । जब तनसुल्यिवाट से नहर राजधानी के भीतर आई तो राजसूय का महान् समारोह मनाया गया और राष्ट्रपति खारवेल ने प्रजा के प्रति नए अनुग्रह की घोषणा की ।

खारवेल अग्रजिन की प्रतिमा की चिंता में बैठे थे । उसी समय दण्डधारियों ने जैनमुनि जयसूरि के आगमन की सूचना दी । महाराज ने आगे बढ़ कर उनका स्वागत किया । उन्होंने दण्ड-नमस्कार के बाद कहा—'अरहंत को नमस्कार । सिद्ध को नमस्कार । क्या तात, बतायेंगे, इस दास से किस सेवा की वांछा है ?'

जैनमुनि सिंहों पर उठाये हुए पत्थर की एक बड़ी चौकी पर बैठ गये । उन्होंने कहा—'आर्य, जिन की कृपा है । तुम्हारा मार्ग प्रशस्त हो । तुम कल्याण के मार्ग के पथिक बनो । आज जैन-संगति में जैनभद्र और जैनसाधु इकट्ठे हुए थे । मौर्यों के आक्रमण में जो अंगसप्तिक

(जैन आगम) अरक्षित रह कर खो गया था, उसी के पुनरुद्धार की बात है।'

'तात, यह दासानुदास खारवेल समिति की प्रत्येक प्रकार से सहायता करेगा।'

'ऐसी ही आशा थी, वत्स।' वृद्ध जैन-मुनि ने आशीर्वाद देते हुए कहा—'अभी महाजिन को तुमसे बड़े कार्य कराना है। बौद्धों और वासुदेव के मठों के सामने जैनों के शौर्य और तेज की प्रतिष्ठा करनी होगी।'

विनीत होकर खारवेल ने कहा—'आर्य की आज्ञा शिरोधार्य है!'

श्रेष्ठ जिन बोले—'परन्तु मगध में अग्रजिन की प्रतिमा रहते हुए कलिंग में देश भर के जिनों की समिति को बुलाना कठिन है। देश के नेतृत्व के लिए यह आवश्यक है कि हम पहले अग्रजिन की प्रतिमा को गांगेय प्रासाद से कलिंग लायें।'

खारवेल गम्भीर हो गये। क्षण भर में स्वाभाविक तेज से लाल पड़ते हुए उन्होंने कहा—'आर्य का यह आदेश मेरे लिए मन्त्र है। वर्षा समाप्त होते ही खारवेल का मेघवाहन सुगांगेय प्रासाद के आँगन में होगा। श्रेष्ठ इसकी चिंता न करें। समिति देश भर के जिन-समाजों को आदेश दे सकती है कि वे पार्श्वनाथ के मंदिर में अग्रजिन की प्रतिमा शीघ्र ही देख लेंगे। अग्रजिन का सिंहासन अब अधिक देर खाली नहीं रह सकता।'

उस दिन खारवेल ने मगध-सम्राट् बृहस्पतिमित्र को पत्र लिख कर अपने इस निर्णय की सूचना दे दी। अग्रजिन की प्रतिमा का मगध के प्रासाद में रहना कलिंग की लांछा की बात थी। महामेघवाहन, ऐल महाराज, चेदिराज-वंशवर्धन कलिंगाधिपति श्री खारवेल इसका निपटारा मगध-सम्राट् पर छोड़ते हैं। छल से, बल से, राजनीति से, जिस तरह

भी हो, इस प्रतिमा को शीघ्र ही प्राप्त करना होगा। मगधराज सचेत हो जायें।

स्वर्णकंठी से आभूषित श्वेत अश्वों पर चढ़ कर १०१ अश्ववाहक पत्र के साथ मगध की ओर चल पड़े। कलिंग के तोरणों पर रण-भेरियाँ रख दी गईं। नगर में नये अभियान की घोषणा हुई और जैन-युवकों के दल के दल कलिंग के अपमान को दूर करने को सचेष्ट हो गये। उन दिनों जनपद-भावना इतनी ही सचेष्ट थी। रणधीर हाथियों को कापिशीय वारुणी पिला कर शृङ्खला-बन्ध की शिक्षा दी जाने लगी और स्वयं चक्रवर्ती सम्राट् लोहवर्म और शिरस्त्राण से सुशोभित सेना का संचालन करने लगे। पार्श्वनाथ गिरि से लेकर कलिंग तक सेनाओं के पड़ाव पड़े।

परन्तु अग्रजिन की प्रतिमा के साथ कालिन्दी की समस्या भी उलझी हुई थी। कालिन्दी अब जिन-सम्राट् के हृदय के आन्दोलनों का विषय बन चुकी थी। इतना सौन्दर्य और इतना साहस! साहसी युवक-सम्राट् का इस कुचक्री युवती के लिए व्याकुल हो जाना आश्चर्य की बात नहीं थी। इस मगध-अभियान से यदि कालिन्दी की सहायता मिल सकती तो कितना सुभीता होता, यह विचार उनके मन में बार-बार उठता था। उस विचार के साथ दो रतनारी आँखें तलवारों की बिजली में कूद जाती थीं।

केयूरक को बुलाकर उसने कहा—'क्या तुम बाह्य मगध के समाचार लेते रहते हो?'

'हाँ, देव,' केयूरक ने उत्तर दिया, 'मगध क्रान्ति के पथ पर चल रहा है। सीमान्तों के उपरिक विद्रोह कर रहे हैं। शासन की प्रत्यंचा ढीली हो रही है। केवल पुष्यमित्र सूत्ररूप में उसे बाँधे हुए हैं। सम्राट् बृहस्पतिमित्र, सुना है, महाकाल की एक नर्तकी के चक्कर में हैं। यही पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र की प्रेयसी है। गुप्तरूप से चरों

को आज्ञा मिली है कि इस नर्तकी को कुक्कुटाराम विहार से निकाल कर सुगांगेय प्रासाद पहुँचा दिया जाये। अग्निमित्र अवश्य उसकी रक्षा करेगा। वह जनता को विद्रोह के प्रति उभाड़ रहा है।'

'कालिंदी क्या करती है?'

'कालिंदी ने मुराजाति के विद्रोहियों और विद्वेषियों को एक स्थान पर इकट्ठा कर लिया है। पाटलिपुत्र में उसका एक छोटा-सा, परन्तु भयंकर दल है। उस दल के सार्थ उसकी भौंह के इशारे पर नाचते हैं। समय पड़ने पर किसी के प्राण ले लेना उसे बुरा नहीं लगता।'

'अद्भुत।'

'अद्भूत हैं, देव! इस स्त्री ने पुष्यमित्र को भी सजग कर दिया है। उधर पुष्यमित्र ब्राह्मण आचार्य पतंजलि का पाटलिपुत्र में स्वागत कर रहा है। अर्थ स्पष्ट है, ब्राह्मण बौद्धों के प्रति एक महान् क्रान्ति की रचना कर रहे हैं। पुष्यमित्र, अग्निमित्र, पतंजलि और कालिन्दी इसी क्रान्ति की अनेक दिशाएँ हैं।'

खारवेल चिंतित हो गये। धीरे-धीरे उन्होंने कहा—'तो ब्राह्मणों और बौद्धों का यह गृहयुद्ध यवनों के पक्ष में जायगा। यवन दिमित्र की आँखें मगध पर हैं। मगध की सीमाओं से कलिंग की सीमाएँ मिली हैं। अतः, इस समय कलिंग भी चुप बैठा नहीं रह सकता। मैं सोचता हूँ, परिस्थिति से लाभ उठा कर हमें मगध पर आक्रमण कर देना चाहिए जिससे कलिंग-जिन हमारे हाथ में आ जाये। यदि हम मगध का शासनसूत्र अपने हाथ में ले सकें, तो हम देश को आगामी विपत्ति से बचा लेंगे। खारवेल के पाटलिपुत्र रहते दिमित्र उस पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकेगा।'

'यह तो कठिन नहीं है, देव!' केयूरक ने बताया—'इस समय गोरथगिरि अरक्षित है। गङ्गा के पार जाने का एक ही मार्ग है, गोरथ-

गिरि से होकर। अतः, गोरथगिरि को ले लिया जाये और वहाँ से गंगा पार करने की तैयारी हो।'

उन दिनों दक्षिण से मगध पहुँचने का प्रत्येक मार्ग गोरथगिरि से होकर जाता था। अशोक के समय से गोरथगिरि भयंकर गिरि-दुर्ग था। अशोक ने ही इसे बनाया था। उसकी प्राचीर इतनी मोटी थी कि एक सहस्र हाथियों की चोट भी उसको तोड़ नहीं सकती थी। गोरथगिरि मगध-राज्य का प्रवेश-द्वार था। अतः, केयूरक से ये समाचार सुन कर खारवेल को हर्ष हुआ। उसने कहा—'केयूरक, तुमने ठीक कहा। मैं समझता हूँ, यवन पतंजलि को अधिक दिन मगध में नहीं रहने देंगे। वे अवश्य आक्रमण करेंगे। उस समय हमें मगध के द्वार पर ही रहना होगा। हमारी थलसेना गोरथगिरि में रहेगी। जलसेना और हस्तिसेना राजगृह के सामने समय की प्रतीक्षा करेगी। सम्भव होगा, तो मैं तुम्हें लेकर स्वयं कुसुमपुर जाऊँगा और उस रहस्यमयी नगरी से परिचित होने की चेष्टा करूँगा।

'और उस रहस्यमयी नारी को, देव, भूल न जायें'—किंचित् मुस्करा कर केयूरक ने कहा।

खारवेल हँस पड़ा। 'हाँ, हाँ। हम कालिंदी को भी वहाँ देख लेंगे। देखें, तूफ़ान से पहले पाटलिपुत्र कैसी नगरी दिखलाई देती है।'

खारवेल ने जो सोचा था, वह उसने शीघ्र ही कार्य में परिणत कर दिया। एक दिन मगध की जनता ने सुना, पार्श्वनाथ के महामेघवाहन चक्रवर्ती खारवेल ने विद्युत्गति से आगे बढ़ कर गोरथगिरि ले लिया। मौर्यराज्य के सैनिक दो-चार दिन भी सफल अवरोध न कर सके। हाथियों के झुंड के झुंड गङ्गा के दक्षिण तट पर राजगृह की दिशा में घूमते हुए दिखाई पड़ने लगे।

कालिन्दी ने भी सुना। उसे सुन कर प्रसन्नता ही हुई। 'खारवेल मुझ पर आसक्त है,' यह वह समझ गई थी। जिस महान् उद्देश्य को

लेकर उसने कलिंग जाने का दुःसाहस किया था, वह उद्देश्य पूरा हो रहा था। उसने अब दल को स्पष्ट आज्ञा दे दी थी। जब पाटलिपुत्र पर आक्रमण हो, तो भीतर अंतर्विद्रोह हो जाये। सेना उसमें कलिंग-वासियों का साथ देगी। परन्तु यह साथ हो कर भी मगध का शासनसूत्र खारवेल के हाथ में नहीं जाये। खारवेल फिर भी मगध के लिए विदेशीय है। जहाँ हो, अग्निमित्र पकड़कर लाया जाये। शासन का भार उसके कन्धे पर डाला जाये।

और अग्निमित्र ? उसे क्या दीन-दुनिया की सुध थी ? वह अब भी छद्मवेष में पाटलिपुत्र के बाहर कुक्कुटाराम के चारों ओर चक्कर लगा रहा था। उस दिन चाँदनी रात में चंक्रम पर उसने इरावती का उन्मद नृत्य देखा था, तब से उसे बराबर लड़ना पड़ रहा था। उसका धैर्य भीतर-भीतर बैठा जा रहा था। मन कहता, इस समय पिता से मिलना ठीक है। पाटलिपुत्र में रहकर भी, मालवों की इस महान् क्रान्ति में यदि कुछ नहीं किया तो बड़ी लांछा की बात होगी। परन्तु उसकी दुर्बलताएँ उसके सामने लौह-प्राचीर बन कर खड़ी थीं।

घंटों, दिनों और सप्ताहों के पंख फड़फड़ाता हुआ समय उड़ा जा रहा था और पाटलिपुत्र के निवासियों को यवन, खारवेल और अन्त-र्विद्रोह के मेघ घुमड़-घुमड़ कर पास आते सुनाई पड़ते थे। निःसहाय, निरीह नेत्रों से वह अपने चारों ओर क्रान्ति का महान् वात्याचक्र उमड़ता देखते थे।

२३

पाटलिपुत्र उन दिनों भयंकर संघर्षों के भीतर से होकर गुजर रहा था। चारों ओर अनिश्चितता थी। न जाने कब क्या हो जाये ? खारवेल

कब आक्रमण करे ? बौद्ध-ब्राह्मण कब लड़ बैठें ? दिमित्र कब चढ़ आये ? नगर के सरल ऐश्वर्यमंडित जीवन पर अनिश्चितता के भूत की काली छाया पड़ रही थी। एक दिन खबर आती, बौद्धों ने मिलिन्द को निमंत्रण दिया। कुक्कुटाराम के महास्थविर का एक पत्र पकड़ा गया है। उसमें ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र को 'अतिब्राह्मण' और 'बौद्धद्रोही' कहा गया। कुछ अवश्य होकर रहेगा।

नगर के तोरणों पर रण-भेरियाँ रख दी गई थीं। धुरन्धर धनुर्धर बिठा दिये गये थे। काष्ठ प्राचीर के चारों ओर की खाई गङ्गा से मिला दी गई थी और उसमें पानी भर गया था। पाटलिपुत्र जैसे एक द्वीप बन गया हो। नगर में अश्वारोही सैनिक तुरही बजाते हुए घूमते और जनता में व्यर्थ की उत्तेजना उत्पन्न करते। काले चोग़ों से शरीर ढके गुप्त दलों के आदमी रात को नगर की राजवाटिकाओं में स्वच्छंदता से घूमते। चारों ओर अराजकता का राज था।

इरावती को ले कर कुक्कुटाराम में भयंकर चक्र उठ खड़ा हुआ था। कौन जानता था, यह क्षुद्र चक्र मौर्यों के लिये मृत्यु का काम करेगा।

घनघोर घटाएँ आकाश पर उमड़ रही थीं। प्रदोष के बादलों से चारों ओर अंधकार-अंधकार दिखलाई पड़ता था। रात आधी पहर जा चुकी थी। सारा आराम निद्रादेवी की गोद में शांति की नींद ले रहा था। केवल महास्थविर और महातांत्रिक कालचक्र जाग रहे थे। दोनों किसी भयंकर आयोजन में लगे थे। दोनों चुप थे। तांत्रिक टेढ़ी-मेढ़ी विभिन्न प्रकार की रेखाएँ खींच न जाने क्या चक्र चला रहा था। महास्थिवर चञ्चल दृष्टि से उसकी गणनाओं की ओर ताकते बैठे थे।

सहसा तांत्रिक के मुख पर हर्ष की रेखाएँ खिल उठीं। उसने मुस्करा कर महास्थिवर की ओर देखा—गणना ठीक नहीं रही। कालचक्र का नेत्र धोका नहीं दे सकता। चक्र बताता है, मिलिन्द शाकल से चल पड़ा है। मथुरा में यवनवाहिनी तैयार है। हमारा पत्र पाकर यवन बढ़े

'वह कोई मालवी है। इस समय में वह जाग रही है। तन्त्र यही कहता है।'

'ठहरो, आता हूँ।'

तान्त्रिक को वहीं छोड़ महास्थिवर दक्षिण के विहार की ओर गए। धीरे-धीरे वे इरावती के कक्ष में पहुँचे। द्वार खुले थे। इरावती जाग रही थी।

पद-चाप सुन कर वह शीघ्र ही उठ कर बैठ गई।

'तुम अभी जागती हो, इरावती!'

इस कुअवसर पर भी इरावती व्यङ्ग नहीं छोड़ सकी। उसने कहा—'सत्य, शील और संयम की शिक्षा ले रही हूँ।'

महास्थिवर गम्भीर थे।

उन्होंने कहा—'बेटी, तुम सदैव दुश्चिंता में पड़ी रहती हो। क्या तुम्हें कोई दुःख है।'

'न'—इरावती ने कहा—'मुझे क्या दुःख होगा, जिसे मैं प्रेम करती हूँ, उसने मुझे ठुकरा दिया है। महाकाल के मन्दिर में नर्तकी बन कर चाहा था शान्ति से जीवन बिता दूँ। परन्तु वह नहीं हो सका। मौर्य सम्राट् की लोलुप दृष्टि मुझ पर पड़ी। अब तुम अनात्म के उपासकों के शील और संयम की भी शिक्षा ले रही हूँ। कितनी बड़ी आत्म-प्रवंचना है, भिक्षु!'

'शांतम् पापम्, शांतम् पापम्' कुछ गम्भीर मुद्रा बनाकर स्थिवर ने कहा—'तुम जीवन से ऊब गई जान पड़ती हो।'

'इस जीवन में अब क्या धरा है!' विरक्ति के भार से इरावती बोली। 'यह सुन्दर शरीर न मेरे प्रेमी का हो सका, न महाकाल के पुजारी का, न अनात्म के उपासक का। फिर क्या मैं इसे सफल जीवन कहूँ? जीवन की किस प्रवंचना के लिए, सुख के किस छल के लिए मैं जीना चाहूँगी?'

महास्थिवर ने उसके सिर पर हाथ फेर उसे शान्त किया। उसने कहा—'बुद्ध का धर्म तुम्हें शान्ति देगा। क्या बुद्ध के एक अनुष्ठान में हमारी सहायता कर सकती हो?'

कैसा अनुष्ठान, रात्रि के इस भयङ्कर अंधकार के परदे में कौन भयङ्कर चक्र इस आराम में रचा जायेगा, इरावती यह जानने के लिए उत्सुक हो उठी। अपनी उत्सुकता दबा कर उसने कहा—'मैं तैयार हूँ। इस शरीर से यदि अनात्म का ही कुछ उपकार हो जाये।'

थोड़ी देर में तीनों प्राणी महाविहार से बाहर के जङ्गल में भद्रकाली की एक महान् मूर्ति के आगे उपस्थित थे। यह स्थान खण्डहर था। यहाँ मनुष्य का आगमन हो नहीं सकता था।

इरावती मूक, मौन, निस्तब्ध, जैसे इस अनुष्ठान से उसका कोई सम्बन्ध न हो, इसमें भाग ले रही थी। उसी को लेकर यह भयङ्कर चक्र खड़ा किया गया है, वह समझ गई थी। परन्तु इधर कई सप्ताह के भयङ्कर मानसिक तर्क-वितर्क ने उसके अन्तर्द्वन्द्व को समाप्त कर दिया था और बीहड़ अनात्म प्रदेश में बन्दी रहने की अपेक्षा वह प्राण देकर भी मुक्त होना चाहती थी।

अग्नि प्रज्वलित हुई। भयानक आकृतियों वाले पात्र इकट्ठे हुए और पूजा आरम्भ हुई।

रात के दो पहर ढल चुके थे। तीसरा पहर भी लगभग समाप्त होने वाला था कि बलि का आयोजन हुआ। कालचक्र ने स्थिवर को देखा, स्थिवर ने कालचक्र को, दोनों ने इरावती को। इरावती भय से काँप उठी। मृत्यु उसके समीप है, इस भाव ने उसके मन में फिर जीवन की दीप्ति भर दी। उसने कहा—'मैं मरना नहीं चाहती, भिक्षु! मुझे छोड़ दो।'

कालचक्र ने मदिरा पी थी। नर-बलि की भयानक उत्तेजना उसके रक्त में मिल गई थी। उसने गरज कर कहा—'खबरदार, इधर आओ!'

और उसने अपनी भीषण आँखें युवती की आँखों में डाल दीं उन आँखों में कृतिका का जादू था। अभिचार से भयङ्कर उन नेत्रों की ओर इरावती देर तक देख न सकी। भीतर-भीतर उसका साहस कुंठित होने लगा।

निरीह बलिपशु की भाँति वह भद्रकली की मूर्ति की ओर बढ़ी। खड्ग हाथ में ले कापालिक कालचक्र उसके पीछे-पीछे चला।

सहसा महास्थविर की अहिंसा जाग उठी। उसने कहा—'रहने दो कालचक्र। नर-बलि के बुद्ध से धर्म को दूषित मत करो।'

'तो फिर तुम ब्राह्मणों को परास्त नहीं कर सकते'—कठोर होकर कालचक्र ने उत्तर दिया—'ब्राह्मणों की शक्ति है यज्ञ-बलि। इसी महाबलि को अपनाना होगा। अब तुम भद्रकाली को अप्रसन्न करने का साहस नहीं कर सकते।'

'सावधान!' महास्थविर को इरावती के अनाघ्रात पुष्प जैसे सौंदर्य पर दया आ रही थी। उसने क्रोध में भर कर कहा -'मैं विहार का महास्थविर हूँ। तुम्हें मेरी आज्ञा मान्य होगी।'

'परन्तु फिर बौद्धों का उद्धार कैसे होगा?' मदिरा से उत्तेजित कालचक्र ने भीषण अट्टहास किया—'हः, हः, हः। तुम धर्मामात्य को पराजित करना चाहते हो, मौर्यों का खड्ग कुंठित हो गया। तुम विदेशी शक्तिशाली यवनों को मगध की सबसे सुन्दर नगरी पाटलिपुत्र पर आक्रमण करने के लिए दावत देते हो। तुम क्या अहिंसक बौद्ध हो, पाखण्डी?'

उसकी आँखें जलने लगीं। महास्थविर को उसकी ओर देखने का साहस नहीं हो रहा था। 'अरे रे, यह पिशाच नहीं मानेगा!'

तान्त्रिक का भयानक कण्ठ स्वर खण्डहर में गूँज गया। उसने गरज कर कहा—'सुन्दरी, भद्रकालि के आगे घुटने टेक!'

इरावती को लगा, वह इस कण्ठ-स्वर की अवहेलना नहीं कर सकती।

घुटने टेक कर वह मृत्यु की प्रतीक्षा करने लगी। एक बार स्थिवर की ओर आँख घुमा कर उसने दया की याचना की।

कालचक्र ने उसकी आँखों में लिखी भीरुता पढ़ ली। उसके अट्टहास से सारी अटवी गूँज उठी। उसने कहा—'तेरा यह सुन्दर शरीर तेरे प्रेमी का नहीं हो सका, अब यह देवता की प्रसादी बन रहा है, इसमें दुःख की बात नहीं है, युवती!'

घण्टे बजे। चौथा पहर लग रहा है। पास के महाविहार में एक घण्टे बाद चहल-पहल हो जायेगी। शीघ्रता करना है।

'अपने प्रेमी को याद कर!'

तान्त्रिक ने खड्ग इरावती के सिर पर घुमाया। जीवन और मृत्यु में अन्तर ही कितना है!

सहसा इरावती की कातर ध्वनि मन्दिर में गूँज उठी—'अग्निमित्र!'

क्या उसे आशा थी, अग्निमित्र कहीं पास होगा और इस विपत्ति से उसका त्राण करेगा?

परन्तु यह क्या!

'इरावती, मैं आ गया!'

और क्षण भर में अग्निमित्र की खड्ग तांत्रिक की खड्ग से लोहा लेने लगी। चिनगारियाँ अंधकार को जलाने लगीं। महास्थिवर उस अंधकार में धीरे-धीरे खिसकने लगे। इरावती अग्निमित्र के पीछे ही थी और अग्निमित्र महान् युद्धकौशल से तांत्रिक के भारी खड्ग का घात-प्रतिघात सहता हुआ मन्दिर के प्रकोष्ठ से बाहर की ओर बढ़ने लगा।

बाहर घोड़ों की टाप सुनाई पड़ी। अंधकार से निकल कर छाया-मूर्तियाँ आगे बढ़ीं। उनके मुख काले उत्तरीय से ढके थे। जो आगे था, उसने गरज कर आज्ञा की—'बन्दी करो!'

एक क्षण में इरावती बन्दी थी। छाया-मूर्तियों ने अग्निमित्र और तांत्रिक को घेर लिया था। वे दोनों अब भी बढ़-बढ़कर घातप्रतिघात

कर रहे थे, परन्तु अब दोनों ही शिथिल हो चुके थे। बँधे बँधे इरावती ने देखा, दोनों बन्दी बना लिये गये और अश्वारोही उन्हें घोड़ों पर डाल कर घने जङ्गल के बीच समझी-बूझी पगदण्डियों से दूर कहीं ले जा रहे थे। उसने शान्ति की एक श्वास छोड़ी—'अग्निमित्र जीवित है।' परन्तु अब एक चिंता नई उठ खड़ी हुई। इन काले वस्त्रों के पीछे न जाने कौन लोग हैं! जो हो, इन दंभी मुण्डकों से तो अच्छे होंगे। उसे शोक यही था कि पाखण्डी महास्थविर उनके बन्धन से निकल गया। परन्तु उसका रहस्य वह जान गई थी। पाटलिपुत्र के द्वार पर रहते हुए इस बौद्धविहार का स्थिवर विदेशियों की सहायता से एक भयंकर विद्रोह-चक्र खड़ा कर रहा है, यह स्पष्ट था। क्या उसका कोई धर्म नहीं है? क्या वह अग्निमित्र को सूचित नहीं कर सकती? परन्तु पहले नई परिस्थिति को समझना होगा।

२४

अग्निमित्र की आँख खुली तो उसने अपने को एक सुन्दर सुसज्जित प्रकोष्ठ में पाया। वातायन से छन कर प्रकाश आ रहा था। अनेक सुन्दर साधनों और उपाधानों से सुसज्जित इस कक्ष की स्थिति कहाँ है, उसके लिये यह जानना भी कठिन था।

'आप जाग गये'—कहती हुई एक अपूर्व सुन्दरी ने कक्ष के द्वार से प्रवेश किया। अग्निमित्र उसकी रूपमाधुरी देख कर आश्चर्य-चकित हो गया। उसने अपनी स्मृति टटोली।

यह स्वर जैसे उसने सुना था, कहाँ सुना था, याद नहीं। याद आया, अरे यह तो वही कालिंदी है। सामन्त वीरभद्र की कन्या। जिसके साथ

बचपन में खेला, मगध के इतने स्वर्ण स्वप्न जिसके साथ बिताये, वही नन्दवंश की कन्या कालिंदी। क्या उसे भूला जा सकता है?

उसने कहा—'कालिंदी यह तुम कहाँ?'

कालिंदी ने मधुर हास्य छिटकाते हुए उत्तर दिया—'अग्निमित्र, तुम क्या भूलने की चीज हो? शक्ति रहते भी तुमने और तुम्हारे पिता जैसे ने भी शतधन्वा के हाथ में पड़ने दिया, यह भी क्या भूलने की बात है?'

अग्निमित्र लज्जित हो गया।

कालिंदी का सौन्दर्य और भी उद्दीपित हो उठा। उसने कहा—'कैसे सुन्दर थे वे दिन! तब हम साथ रहते थे, कोई बाधा नहीं थी, प्रेम की नदी अथाह बहती थी। पिता नन्दवंश के एकमात्र अवशेष थे। नन्दराज की महान् निधि का पता उनके सिवा किसी को भी नहीं, यह सब जानते थे। क्या मैं भूल सकती हूँ, उन्हीं देवतुल्य पिता को शतधन्वा ने आग में तपा-तपाकर नन्द की निधि की बात पूछी। परन्तु धन्य पिता, तुम अडिग रहे। नन्द की महान् निधि आज भी देश के लिए सुरक्षित है। गांगेय प्रासाद के घृणित आमोद-प्रमोद के लिए उसकी एक भी मुद्रा नहीं मिली, इस विचार से मुझे कितना सुख होता है, अग्निमित्र!'

उत्तेजना में भरी हुई वह कहती गई। 'परन्तु तुम अग्निमित्र, कायर निकले। तुमने मुझे शतधन्वा के हाथ में पड़ जाने दिया और यदि दूसरे ही दिन उसका देहान्त हो गया होता, तो यह कालिंदी अपना कलंकित मुख तुम्हें नहीं दिखाती।'

क्षोभ से उसका गला भर गया।

अग्निमित्र ने कहा—'सच कालिन्दी, मुझ पर पिता का अंकुश था। मैं उनसे कितना डरता हूँ, यह तो मैं जानता हूँ और तुम भी। मेरी दुर्बलताएँ भी जानती ही हो।'

वह मुस्कराया।

कालिन्दी के होंठ भी मुस्कराहट में खिल गये। उसने कहा—'तभी कल एक साधारण बौद्ध भिक्षुणी के लिए हिंसा-क्रूर कापालिक के हाथ पड़ गये थे।'

'ओः तब तुम थीं। वे छायामूर्तियाँ कौन थीं?'

कालिंदी मुस्कुराई। 'नन्दों का इतिहास इतनी शीघ्र जान लेना चाहते हो।'

'तब भी?' जिज्ञासा की आँख से अग्निमित्र ने उसकी ओर देखा।

'यह मेरे दल के आदमी हैं। मौर्यों के प्रति विद्रोह की अग्निशिखा जलाये रखना इस कालिन्दी का काम है। निर्वीर्य हाथों में शासन की बागडोर अब नहीं रह सकती। पश्चिम में मिलिन्द और दिमित्र की आँखें कुसुमपुर की ओर लगी हैं, पूर्व से खारवेल चला आ रहा है। इस समय तुम्हारे पिता पर ही मगध की आशा टिकी है। परन्तु सेनापति पुष्यमित्र तुमसे प्रसन्न नहीं जान पड़ते, अग्निमित्र।'

अग्नि मुस्कुराया। बोला—'पिता का शासन कठोर है। उन्हें रसिकता छू भी नहीं गई।'

कालिन्दी खिलखिला कर हँसने लगी। 'तुम्हारी रसिकता तो इरावती तक ही सीमित है।'

वह शैय्या पर अग्निमित्र से सट कर बैठ गई।

'तो समझ लो।'

'समझ क्या लूँ? है ही। आज इतने दिनों के बाद भी क्या कालिंदी कह सकती है कि तुम उसे स्वीकार कर लोगे?'

कहती हुई वह अग्निमित्र से लिपट गई। उसके अङ्ग-अङ्ग से लावण्य की ज्योति फूट रही थी, सुगंधित उत्तरीय खिसक कर नीचे आ गया था और कंचुक के भीतर के महान् उद्वेग को दिखलाते हुए दो सौन्दर्य-कंदुक समुद्र-तल पर प्रतिबिम्बित दो चंद्रबिंबों की भाँति उत्थान-पतन का अनुभव कर रहे थे। सद्यःस्नाता सौन्दर्य की प्रभा से मुग्ध हो अग्निमित्र

ने कालिन्दी के उद्दीप्त मुख को देखा। उसके जूड़े की खिली चमेली उसके मुख पर मादक निःश्वास छोड़ रही थी। कादम्ब की भीनी महक से कक्ष सुरभित हो उठा था। इस मादक, मनमोहन नारी-सौन्दर्य के प्रति क्या उपेक्षा की दृष्टि रखी जा सकती थी?

भावोद्रेक से अग्निमित्र काँप उठा। उसने धीरे से उसे हटाते हुए कहा—'अभी समय नहीं है, कालिंदी!'

'कैसा समय नहीं है?' मुग्ध दृष्टि से उसे देखते हुए अग्निमित्र बैठा रहा।

सहसा कालिन्दी ने उसे बाहुओं में भर लिया और दो जलते हुए होंठ उसके होठों पर धर दिये। जिस तरुण को वर्षों से भीतर-भीतर वह प्यार करती आई थी, क्या वह यों ही जाने देगी?

अग्निमित्र ने अनुभव किया, पैर के नीचे भूचाल चल रहा है, धरती हिल उठी है, कुछ उथल-पुथल होने वाली है।

'तुम! मायाविनी!'

अट्टहास से सारा कक्ष गूँज उठा।

वह उसे छोड़ कर हट गई। उत्तरीय असावधानी से नीचे डाल दिया। विभ्रम की दृष्टि से उसे देखती हुई वह क्षण भर खड़ी रही।

'क्या अब भी अस्वीकार!'

अग्निमित्र चुप।

'बोलो।'

अग्निमित्र फिर भी चुप।

'क्यों चुप हो?'

अग्निमित्र चुप।

कालिन्दी उत्तेजित हो उठी। उसने कहा—'क्या मैं भिक्षुणी इरावती से भी गई बीती हूँ? क्या मैं सुन्दरी नहीं हूँ? क्या मेरे हृदय के भीतर प्रणय का चलता हुआ समुद्र नहीं है? क्या तुम मुझे अस्वीकार ही करते

रहोगे ? मैं राजकुमारी, नन्दवंश की राजनन्दिनी आज तुम्हारे सामने भिक्षा नहीं माँगती। मैं अपना प्राण तुम्हें दान करती हूँ।'

उसकी आँखें गर्व से जल रही थीं।

अग्राशी-सी खड़ी इस गर्वमयी सुन्दरी युवती की उपेक्षा वह नहीं कर सका। उसने देखा, कालिन्दी अब कालिन्दी नहीं है। वह विद्रोह है। ज्वालामुखी है। उसको अस्वीकार करने से बन नहीं पड़ेगा। आह, सौन्दर्य की यह कापिशा की मदिरा! यह उन्माद-भरी अवहेलना! और वह इरावती!

उसने एक बार स्निग्ध नेत्रों से कालिंदी की ओर देखा। इरावती शरद की शान्त नदी है जिसमें सहज हिलकोरे हैं, ज्वाला नहीं, झंझा नहीं, आवर्त-विवर्त्त नहीं। इधर कालिंदी है, वर्षा की नई बाढ़ से संयम के कूलों को ढहाती हुई, तट के वृक्षों को भूमिसात करती हुई! उसने मुस्कुरा कर कहा—'कालिंदी, तुम क्या मुझे एकदम निष्ठुर, रसहीन पत्थर का टुकड़ा मात्र समझती हो?'

कालिंदी मुस्कुरा दी। 'तुम बड़े चतुर हो। बातों में कालिंदी को भुलाना चाहते हो?'

अग्निमित्र ने पूछना चाहा, इरावती का क्या हुआ, यह कालिंदी अवश्य जानती होगी। कालिंदी इतनी कच्ची नहीं थी कि इतनी-सी बात नहीं समझती।

उसने कहा—'तुम इरावती की बात जानना चाहोगे। तुम्हारी इरावती कालिंदी की बन्दिनी है। इसी भूमिगर्भ-प्रासाद में! परन्तु छूटने की चेष्टा मत करना। व्यर्थ होगा। पहले उत्तर देना होगा, कालिंदी को स्वीकार करते हो या नहीं?'

जब कालिंदी चली गई तो अग्निमित्र देर तक उसके और इरावती के विषय में सोचता रहा। यह ज्वालामुखी है, वह हिमालय की हिमप्रभा। एक में विस्फोट है, दूसरे में मादन भाव। परन्तु यह कालिंदी क्यों इतना

बड़ा साहस कर रही है, क्यों नंदों की प्रतिहिंसा के रूप में वह मौर्यों के ऊपर शस्त्र तान कर खड़ी हो गई है!

ठीक समय पर उसने भोजन किया, स्नान किया। रात को भोजन के बाद देर तक उसने प्रतीक्षा की, परन्तु न कालिन्दी आई, न कोई उपचारिका।

सहसा कक्ष प्रकाश की बाढ़ से भर गया। घबड़ाई हुई कालिन्दी प्रकाश के साथ दिखाई दी। उसने कहा—'बृहस्पतिमित्र की सेना ने आक्रमण किया है। अब बचना कठिन है। ऊपर के कक्ष में इरावती थी, वह पकड़ी जा चुकी है। हमारे दल का एक आदमी राजसेना से मिल गया है। अतः सेना को रोकने के लिए आदेश दे मैं यहाँ एक क्षण के लिए आ पाई हूँ। एक क्षण में वे यहाँ होंगे। अच्छा, अग्निमित्र! विदा।' वह फिर सीढ़ियों पर चढ़ने लगी।

उसने कहा—'प्रतिरोध मत करना। हम तुम्हें शीघ्र ही छुड़ा लेंगे। और पिता पुष्यमित्र तो हैं ही। भय की बात नहीं है।'

चलते-चलते एक क्षण, वह रुकी। 'तो तुमने कोई निश्चित नहीं किया?'

उसी समय छत पर सैनिकों की पदचापें और खड्गों की 'छपछप' सुनाई पड़ी। सीढ़ियों पर चढ़ कर एक पार्श्व की ओर प्रकाश ले कर जाती कालिंदी ओझल हो गई। अंधकार में लेटा अग्निमित्र मगध के सैनिकों की प्रतीक्षा करने लगा।

२५

सुगांगेय प्रासाद की विशाल रंगशाला के एक प्रकोष्ठ में इरावती उदास-मुख अतीत के सपने देख रही थी। उसका जीवन भी क्या था,

क्या हो गया। नियति की प्रताड़ना से वह उपासिका बनी, नर्तकी बनी, भिक्षुणी विहार में शिक्षमाणा बनी और अब यह बन्दी नारी। जीवन ने उसे कहाँ से ला कर कहाँ पटका, इसकी विवेचना क्या सरल बात थी! इधर कई दिनों से वह यहाँ है, उपचारिकाएँ, दासियाँ, पौरद्वारिकाएँ सब उसको इतना आदर सम्मान देती हैं जैसे सम्राज्ञी वही हो। पट्टमहिषी इस बात को नहीं जानती, परन्तु अंतःपुर से बाहर राजा जो रंगमहल बना कर मनोविनोद किया करते हैं, उसे सब जानते ही हैं।

इन्हीं विचारों में मग्न वह बैठी रही। मलयपवन की झकझोर उसमें कभी-कभी संवेदना की भावमयी लहरें भी उठा देती, परन्तु वह फिर स्थिर हो जाती।

सहसा दण्डधारिणी भृत्याएँ घोषणा करती हुई आई—'परम मागध परमबौद्ध धर्मपाल सम्राट् बृहस्पतिमित्र आते हैं। सावधान!' सारा प्रासाद जैसे किसी स्वप्न से जाग कर आँख फाड़ कर देखता हो।। चारों ओर एक गम्भीर छाया। इरावती ने देखा, दो सुन्दर परिचारिकाओं से हँसी-प्रमोद करते हुए तरुण सम्राट् बृहस्पतिमित्र आ रहे हैं। वह उठी नहीं। अभिवादन भी उसने नहीं किया। वह सम्राट् की प्रजा सही, परन्तु चोरी से लाई जाकर सम्राट के प्रति उसका कोई कर्तव्य नहीं रह गया। सम्राट आये। परिचारिकाओं को दूर रहने के लिए उन्होंने संकेत किया। उन्होंने ने कहा—'इरावती, महाकाल मन्दिर के उस दिन के नृत्य को मैं भूला नहीं हूँ।'

'इसमें इरावती के लिए कोई प्रशंसा की बात नहीं है, सम्राट्!'

'तुम सुगांगेय प्रासाद के प्रमोद कानन के योग्य मयूरी देवता के आगे, निर्जीव पत्थर के आगे, व्यर्थ जीवन बितातीं, यह बृहस्पति नहीं सह सका।'

इरावती बोली नहीं।

'क्यों! बोलना भी नहीं चाहती!'

‘..................’

‘क्या अग्निमित्र से मन नहीं भरा ?’

‘तड़प कर जैसे इरावती ने किंचित् कठोर स्वर में उत्तर दिया। ‘मौर्य सम्राट् के लिए वाग्दत्ता नारी का इस तरह छिपा-चोरी रंगमहल में ले आना कोई बड़े श्रेय की बात है ?’

बृहस्पति पास आ गये। इरावती के समीप आ बैठते हुए उन्होंने कहा—‘सुन्दरी, यह अपराध मैंने किया है, परन्तु सुगांगेय प्रासाद का सारा वैभव तुम्हारे चरणों पर न्यौछावर है।’

इरावती उठ खड़ी हुई। ‘मौर्य प्रजा-पीड़न भी जानते हैं।’ उसने कहा और छिटक कर अलग जा रही। उसने कहा—‘मुझ दरिद्र, अकिंचन को तुम्हारे विलास और ऐश्वर्य के प्रति जरा भी आकर्षण नहीं है। मुझे तुम बाहर पहुँचा दो। यह शरीर देवता को समर्पित होकर फिर मानव का नहीं हो सकता।’

सम्राट् ने अट्टहास किया—‘देवता! क्या अग्निमित्र को देवता मान लूँ ?’

इरावती कठोर हो गई। उसने कहा—‘क्या तुम इतने क्लीव हो कि दूसरे की प्रसादी को ग्रहण करना ही तुम्हारे लिए पौरुष की बात है ? शून्य की उपासना ने क्या तुम्हारे हृदय को भी सूना कर दिया है ! कामसुख की प्रवंचना में फँस कर क्या तुम अपना कर्तव्य भी भूल गये हो ?’

सम्राट् उठ कर इरावती के सामने आ गये। उनके कण्ठ-स्वर से उनके हृदय की उत्तेजना स्पष्ट हो रही थी। उन्होंने कहा—‘इरावती, मैं तुम्हारे सामने मौर्य सम्राट् के रूप में नहीं आया। मैं तुम्हारे प्रणय का भिखारी हूँ। कहाँ जा रहा हूँ, नहीं जानता। देखता हूँ, साम्राज्य पर प्रलय-मेघ उमड़ रहे हैं। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण सब ओर एक नई कुज्झटिका चल रही है। अन्तःविद्रोह का डर है। विदेशी मदमत्त हो रहे हैं। परन्तु

तुम्हारे प्रेम में शिथिल यह बृहस्पति पङ्गु बन गया है। उस दिन तुम्हारा नृत्य देखकर मैं कितना उन्मत्त हो गया था। तुम्हारा वह विष अब भी अन्तर को जला रहा है।'

कामातुर हो वह आगे बढ़ा।

इरावती पीछे हट गई। कञ्चुकी से छोटी-सी खड्ग उसने निकाल ली थी। उसने कहा—'इरावती मरना भी जानती है।'

बृहस्पतिमित्र स्तब्ध!

'सुन्दरी, एक दिन तुम्हें मेरे हृदय की ज्वाला बुझानी होगी।'

तभी मंत्रणागृह में घंटा बज उठा। अशोक के समय से इस घंटे की व्यवस्था थी। मंत्री जब सम्राट् को असमय बुलाना चाहते, तो इस घंटे का उपयोग होता।

सम्राट् ने मंत्रणागृह की ओर जाते हुए इरावती से कहा—'क्षमा करना, इरावती! परन्तु मौर्य भी मानव है, देवता नहीं। मैं तुम्हें समय देता हूँ। सोच लो। विचार करके देख लो। अग्निमित्र या बृहस्पति। तुम्हें एक को अपनाना होगा। तुम निश्चय जानो, अग्निमित्र का कोई अहित नहीं होगा। तब तक वह बन्दी रहेगा। बृहस्पति को स्वीकार कर तुम अग्नि को भी मुक्ति दोगी।

व्यङ्ग से उसकी ओर मुस्कराते हुए वह शीघ्र ही कक्ष से बाहर हो गये।

इरावती के हृदय में मर्मान्त पीड़ा हुई। अग्निमित्र उसके कारण बन्दी है, फिर ईर्ष्यालु सम्राट् के वचनों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है। उसे अपने ऊपर क्रोध आ रहा था। अग्निमित्र उसके लिए क्या सोचेगा। जब समय था, वह क्यों नहीं अग्निमित्र के प्रति आत्म-समर्पण कर सकी। अब इस अवहेलना की पीड़ा में जलना होगा।

मन्त्रणागृह में आने पर सम्राट् को पुष्यमित्र बैठे दिखाई दिये।

फिर इस मौन को भंग कर वृहस्पतिमित्र ने पूछा। उन्होंने कहा—'तो अग्निमित्र को बुलाऊँ ?'

'मैं तो उसका मुख भी नहीं देखना चाहता।'—पुष्यमित्र ने क्रोध से भृकुटी कुंचित की।

सम्राट् हँसे। उन्होंने कहा—'क्या पिता की सेवाओं के नाते पुत्र को क्षमा नहीं किया जा सकता ?'

'सम्राट् ! इस अग्नि को मैं समझा नहीं। मालवे में मगध से दूर उसका भरण-पोषण हुआ। सामन्त वीरभद्र ने उसे शिक्षा-दीक्षा दी। अब वह अपने ऊपर किसी का अंकुश नहीं मानता, तो क्या किया जाये। मैं इसी हाथ से उसे दण्ड देने को तैयार हूँ।'

सम्राट् ने ताली बजायी। दो दंडधारी भृत्य उपस्थित हुए। उन्होंने आज्ञा की—'बंदी अग्निमित्र को लाया जाय।'

लौह शृङ्खला से जकड़ा हुआ अग्नि उपस्थित हुआ। पिता को देख कर वह थोड़ा कुण्ठित अवश्य हुआ, परन्तु फिर भी वीरत्व से तना हुआ।

पुष्यमित्र ने कहा—'अग्नि, तुम साम्राज्य में अराजकता फैलाने के दोषी हो। तुमने कुक्कुटाराम विहार की एक नर्तकी को भगाया और उसकी खोज में गई मगध-सेना से युद्ध किया। अपने अभियोगों की सफाई में तुम्हें कुछ कहना है ?'

'किस परिस्थिति में पड़ कर मैंने एक अबला का उद्धार किया, यह आप नहीं जानते।'

पुष्यमित्र को अग्नि की उच्छृङ्खलता अच्छी नहीं लगी। उसने कहा—'अग्नि, तुम अपने पिता को निरा निर्बोध समझ कर भागने की चेष्टा मत करो। तुम पकड़े जाओगे, यह निश्चित है। क्या तुम समझते हो, तुम्हारी गतिविधि सेनापति पुष्यमित्र की आँखों से छिपी रह सकती थी ?

'परन्तु मैंने सम्राट् के प्रति कोई षड्यन्त्र किया, यह कैसे कहा जा सकता है ?'

'जब देश पर विदेशी आक्रमण के मेघ घिर रहे हों, जब भारत की पवित्र भूमि लांछित हो गई हो, तो आवारा, उच्छृंखल बन कर अपनी कुलशीला कन्याओं के प्रति प्रेम और आसक्ति के गीत गाना, साम्राज्य के प्रति विद्रोह से कम नहीं।'

अग्निमित्र तन गया।

उसने कहा—'मैं सम्राट् को प्रतिहिंसा के रूप में भी देख चुका हूँ।'

बृहस्पति की आँखों में ज्वालाएँ जग उठीं! उसने कहा—'तुम बहुत उच्छृंखल हो गये हो, अग्निमित्र! शासक की मर्यादा रखने के लिए मुझे तुम्हें दण्डित करना होगा। मौर्यों की भुजाएँ अभी इतनी निर्बल नहीं हुई हैं, कि प्रत्येक तरुण उन्हें ललकार सके।'

परन्तु अग्निमित्र विचलित नहीं हुआ। उसने दृढ़ता से कहा—'मैं दण्डित होने में कोई अपमान नहीं समझता। पिता के हाथों दण्ड पाते हुए मुझे कोई दुख नहीं होगा।'

बृहस्पति ने कठोरता से पुष्यमित्र की ओर देखा। पुष्यमित्र ने परिस्थिति की विषमता ताड़ ली। उसने गरज कर कहा—'अग्नि, तुम पिता द्वारा कड़े से कड़ा दण्ड पाने की ही आशा कर सकते हो। तुमने महासेनापति के पुत्र के योग्य कोई काम नहीं किया है। तुम भारत को लांछित करते हो।'

अग्निमित्र ने उपेक्षा से मुख मोड़ लिया। जैसे उसे न अभियोग से कोई सम्बन्ध हो, न दंड से।

सहसा बृहस्पतिमित्र की कठोर आवाज गूँज गई। उसने कहा—'अग्निमित्र, मौर्य शासनदण्ड बड़ा कड़ा है। हम तुम्हें मगध सेना से युद्ध करने के अभियोग में दंडित किए बिना नहीं रह सकते। अतः,

फिर इस मौन को भंग कर वृहस्पतिमित्र ने पूछा। उन्होंने कहा—'तो अग्निमित्र को बुलाऊँ ?'

'मैं तो उसका मुख भी नहीं देखना चाहता।'—पुष्यमित्र ने क्रोध से भृकुटी कुंचित की।

सम्राट् हँसे। उन्होंने कहा—'क्या पिता की सेवाओं के नाते पुत्र को क्षमा नहीं किया जा सकता ?'

'सम्राट् ! इस अग्नि को मैं समझा नहीं। मालवे में मगध से दूर उसका भरण-पोषण हुआ। सामन्त वीरभद्र ने उसे शिक्षा-दीक्षा दी। अब वह अपने ऊपर किसी का अंकुश नहीं मानता, तो क्या किया जाये। मैं इसी हाथ से उसे दण्ड देने को तैयार हूँ।'

सम्राट् ने ताली बजायी। दो दंडधारी भृत्य उपस्थित हुए। उन्होंने आज्ञा की—'बंदी अग्निमित्र को लाया जाय।'

लौह शृङ्खला से जकड़ा हुआ अग्नि उपस्थित हुआ। पिता को देख कर वह थोड़ा कुण्ठित अवश्य हुआ, परन्तु फिर भी वीरत्व से तना हुआ।

पुष्यमित्र ने कहा—'अग्नि, तुम साम्राज्य में अराजकता फैलाने के दोषी हो। तुमने कुक्कुटाराम विहार की एक नर्तकी को भगाया और उसकी खोज में गई मगध-सेना से युद्ध किया। अपने अभियोगों की सफाई में तुम्हें कुछ कहना है ?'

'किस परिस्थिति में पड़ कर मैंने एक अबला का उद्धार किया, यह आप नहीं जानते।'

पुष्यमित्र को अग्नि की उच्छृङ्खलता अच्छी नहीं लगी। उसने कहा—'अग्नि, तुम अपने पिता को निरा निर्बोध समझ कर भागने की चेष्टा मत करो। तुम पकड़े जाओगे, यह निश्चित है। क्या तुम समझते हो, तुम्हारी गतिविधि सेनापति पुष्यमित्र की आँखों से छिपी रह सकती थी ?

दोपहर को, सेना के सामने सेना के इस अपमान के लिए तुम्हें दंडित होना पड़ेगा।'

वातावरण निस्तब्ध और क्षुब्ध।

'कल, दोपहर को। तुम मत्त गजराज की भाँति अपने ऊपर कोई अंकुश नहीं मानते। कल दोपहर को सेना के सम्मुख तुम्हें मत्त गजराज के साथ अपना युद्ध-कौशल दिखलाना होगा।' वह भृत्यों का सहारा लिये उठने लगा। उसने कहा—'इस बंदी को ले जाओ।'

जाते हुए मत्तगयंद की चाल चल कर अग्निमित्र पिता की ओर घूमा। पिता की आँखों में क्षोभ और भर्त्सना के संकेत उसने पढ़े। आज क्या सचमुच पिता उसे इस उच्छृङ्खल, विलासी युवक सम्राट् के क्रोध की बलि होने देंगे!

२६

क्षण भर में अग्निमित्र के बंदी होने का समाचार पाटलिपुत्र के कोने-कोने में फैल गया। मागध सशंक हो उठे। मालवों का रक्त खौलने लगा। मौर्य सम्राट् का यह साहस! सेनापति पुष्यमित्र की सेवाओं का यह सत्कार! धिक्कार है क्लीव राजपुरुष को जो अपने स्वार्थ में पड़ कर इतना अकृतज्ञ हो उठे! धिक्कार है स्त्रैण कापुरुष बृहस्पतिमित्र को! इधर बहुत दिनों से जनता 'बृहन्नला' कह कर उसका परिहास करती रही थी। आज के समाचार से सब के हृदयों में तड़ित भर गई।

कालिन्दी ने भी यह समाचार सुना। वह साहसी स्त्री भला चुप कैसे बैठती। एक घनी अटवी के बीच किसी पुराने प्रासाद के खंडहर में उसने अपने दल को इकट्ठा किया। किसी भी तरह हो, कैसे ही हो, मौर्य खड्ग से अग्निमित्र का उद्धार करना होगा। परन्तु इरावती सुगांगेय प्रासाद में

उसके पैर लड़खड़ा रहे थे और वह अपने कार्य में सफल नहीं हो सका।

इरावती भीत हो उठी। इस महाविशाल प्रासाद में उसकी रक्षा कैसे होगी ! इस समय अग्निमित्र से क्या आशा की जा सकती है ! तब क्या वह निराश हो जाये ?

उसने साहस बटोर कर कहा—'मौर्य सम्राट् को एक क्षुद्र नर्तकी से तर्क-वितर्क करना अच्छा नहीं लगता।'

'क्षुद्र नर्तकी !' एक बार फिर वृहस्पतिमित्र के अट्टहास से कक्ष गूँज उठा। उसने लड़खड़ाते हुए स्वर में कहा—'तुम बड़ी चतुर हो, नर्तकी ! परन्तु वृहस्पति आज तुम्हारे प्रणय की भीख माँगने नहीं आया है। यह महाकाल का प्रांगण नहीं है, यह सुगांगेय प्रासाद है। यहाँ तुम जैसी गर्वीली सुन्दरियों के गर्वगढ़ ढाये जाते हैं। क्या अब भी अग्निमित्र की अपेक्षा है ?'

इस व्यङ्ग से इरावती तिलमिला उठी।

उसकी आँखों में रोष की ज्वाला जल उठी। परन्तु रमणी अबला का क्रोध ! वह कितने क्षण का ! उससे तो अमृत की ही वर्षा हो सकती है, या तरल जलविंदु की।

उसने रुँधे हुए दर्प से कहा—'इरावती अब भी अग्निमित्र की है। क्या अग्निमित्र के न रहने पर आप यहाँ मेरा अपमान नहीं कर रहे हैं ? क्या आपको स्वयं अग्निमित्र का भय नहीं है ?'

यद्यपि सम्राट् को अग्निमित्र का यह गुणगान अच्छा नहीं लगा। उन्होंने व्यङ्ग से उसकी ओर देखते हुए कहा—'कल दोपहर को अग्निमित्र को तुम्हारी प्रतीक्षा रहेगी। अग्निमित्र को उन्मत्त गजराज के पैरों-तले रोंदे जाने से बचाना हो, तो मेरी बात अस्वीकृत न करो।'

'क्या अग्निमित्र के प्राण लोगे ?'—इरावती पूछ बैठी।

'अग्निमित्र बंदी है। उसके पिता पुष्यमित्र के सामने उसे प्राणदंड

दिया गया है। कल देख लेना, संसार में कौन हुआ था, नहीं होगा। पिता की आज्ञा से पुत्र का वध!'

एक पैशाचिक अट्टहास!

इरावती सहम गई। उसने कहा—'बृहस्पतिमित्र! उस दिन जब कुमार थे मेरे सामने तुमने देख कर तुमसे स्नेह की भीख माँगी थी। आज सम्राट् के सामने, तुमने देख कर मैं तुमसे अभिमान की भीख माँगती हूँ।

बृहस्पतिमित्र की नस-नस में भरा हुआ इस्पात उछलने लगा। वही अग्निमित्र, फिर अग्निमित्र। उसने होंठ चबाते हुए कहा—'सुनो इरावती, अग्निमित्र अब तुम्हारा कोई नहीं है। तुम्हारा यह उसके प्राण ले लेगा। भला चाहती हो तो बृहस्पतिमित्र को आत्मसमर्पण कर दो। इसी में कल्याण है।'

इरावती धम से पृथ्वी पर गिर कर रोने लगी। 'कभी नहीं, कभी नहीं।'

'नहीं!'

'नहीं!'

'नहीं!'

उसी तरह रोते हुए इरावती ने रुंधे कंठ से कहा—'मैं अग्निमित्र की वाग्दत्ता हूँ।'

'मैं तुम्हें राजमहिषी के रूप में देखना चाहता हूँ।'

डूबते हुए को तिनके का सहारा मिला। इरावती ने व्यंग किया—'परन्तु मैं तुम्हारे पिता के द्वारा दिये गए एक वचन को मानती हूँ। तुम राजपुत्र स्त्री का हृदय क्या जानो!'

यह इरावती क्या जानती है! बृहस्पतिमित्र इरावती के रूप से जल उठा था। उसने कहा—'सुनो इरावती, मैं तुम्हारी बात नहीं समझता। तुम चाहे जो कहो, आज इस बृहस्पतिमित्र के हृदय में दया नहीं है।'

मद से उसकी लाल आँखें ऐसी भयानक हो रही थीं कि इरावती को उनकी ओर देख कर भय लगता था। उसने कहा—'तुम एक अबला पर अत्याचार नहीं करोगे, इसमें मुझे सन्देह नहीं है।'

बृहस्पतिमित्र ने मुस्करा कर कहा—'और उस दिन अग्निमित्र के सामने तुमने जो अत्याचार किया था, वह क्या भुलाया जा सकता है?'

घंटे ने दो बजाए।

कक्ष के बाहर चाँदनी बिछी हुई थी और एक वातायन से छन कर चाँदनी कक्ष के द्वार पर भी पड़ रही थी।

'बाहर का संसार कितना सुन्दर था।'

'आह, यदि अग्निमित्र होता!'

सहसा वह उठ खड़ा हुआ। उसने इरावती को बाहुओं में भरने की चेष्टा की। इरावती पीछे हट कर कक्ष की उस खिड़की से सट गई जो बाहर उद्यान की ओर खुलती थी।

बृहस्पतिमित्र उन्माद और वासना से पागल हो रहा रहा।

उसने कहा—'देर मत करो, सुन्दरी, अपने प्रेमी के लिए तुम इतना भी त्याग नहीं कर सकतीं! कल अग्निमित्र की देह गजराज के पैरों-तले होगी और जिन अधरों का तूने चुम्बन किया है, वह धूल में लोटेंगे।'

इरावती भय से चीख दी।

वह अब और अधिक सुन नहीं सकेगी।

बृहस्पतिमित्र ने उसकी कुण्ठता से लाभ उठाना चाहा। वह एक कदम और आगे बढ़ आया। तभी कक्ष-द्वार पर चाँदनी में एक काली प्रेत-छाया हिली-डुली।

'कौन!'

बृहस्पति की ध्वनि की अवहेलना कर वह प्रेत-छाया कक्ष में आ गई।

दोनों चकित थे।

'मैं कालिन्दी हूँ, सम्राट् बृहस्पतिमित्र की प्रेमिका !' उसकी आँखों के कोण की मधुर ध्वनि की भाँति उसका हास क्षण भर में बिखर गया।

बृहस्पतिमित्र पीला पड़ गया।

क्षण भर में स्वस्थ होकर उसने कहा—'कालिन्दी ! ओह ! अब समझा। परन्तु इस नाटक का क्या अर्थ है ?'

'क्या शतधन्वा के नरक-कुण्डों की यन्त्रणा भयानक होती नहीं सम्राट् ?'

'परन्तु' कालिन्दी, तुमने तो कहा था, तुम मुझसे प्रेम करती हो।'

कालिन्दी ने अट्टहास किया। 'और तुम भी तो कितना आज मुझसे प्रेम करते थे। इरावती को छोड़ दो !'

'तुम कौन हो, जो मुझे आज्ञा दोगी ?'

'मैं नन्दराजवंश की कन्या कालिन्दी हूँ। समय बहुत कम है, मेरी नाड़ियों में नहीं बह रहा है कि कायर मौर्यों की तरह प्राण दूँ। इरावती को छोड़ दो या मरो !'

उसने अपना चाँदी का बिगुल बजाया। खुली खिड़की में से बृहस्पतिमित्र और इरावती ने देखा—सैकड़ों छायाकृतियाँ अशोकवन के लतागुल्मों से निकल कर कक्ष की ओर बढ़ रही हैं। लौट कर बृहस्पति ने कालिन्दी की ओर देखा—उसके हाथ में तीक्ष्ण खड्ग चमक रहा था, जिस पर विद्रुम से गरुड़ध्वज बना हुआ था।

क्रान्ति का चिह्न ! वासुदेव के भक्तों का प्रतीक ! क्या कालिन्दी उन विद्रोहियों से मिली हुई है जो मौर्यों के सुगांग प्रासाद को उखाड़ने की धुन में हैं !

तब इरावती होश में आई !

बृहस्पतिमित्र ने कहा—'कालिन्दी, तुम क्या चाहती हो ? ये इतने मनुष्य सुगांग प्रासाद में कैसे आ गये ?'

'अग्निमित्र कहाँ है ?'

'यह पुष्यमित्र से पूछो !'

'अच्छा, परन्तु !'

इसी समय सुगांग प्रासाद का विशाल कीर्तिस्तम्भ घंटों की ध्वनि-प्रतिध्वनि से गूँज उठा। कदाचित् प्रहरियों को नवागन्तुकों की गंध मिल गई थी।

एक हर्ष की क्षीण रेखा बृहस्पतिमित्र के अधरों पर दौड़ गई।

परन्तु अब कालिन्दी खिड़की के पास आ चुकी थी। उसने इरावती के कान में कुछ कहा। फिर मुड़ कर बृहस्पतिमित्र की ओर देखा। उसने कहा—'कालिन्दी क्रूर नहीं है, नहीं तो इस समय मौर्य सम्राट् से नन्दवंश के रक्त का ऋण चुकाया जा सकता था परन्तु बलि का आयोजन हो चुका है। रणभेरी बजने की देर है। अग्निमित्र का बाल भी बाँका न हो, खबरदार !'

और क्षण भर में इरावती को लेकर वह खिड़की से नीचे प्रमोदकानन में कूद पड़ी। उद्यान में अनेक प्रकार की छायामूर्तियाँ विद्युत्गति से इधर-उधर आ-जा रही थीं। कुंजों में अंधकार और प्रकाश के जुगनू खेल रहे थे। सुगांग प्रासाद में भी हलचल मची हुई थी। प्रहरी जाग कर इधर-उधर गवेषणा कर रहे थे।

उसी समय उसे अग्निमित्र की याद आई। परन्तु सुगांग प्रासाद के भूगर्भ कक्ष तक क्या कालिन्दी पहुँच सकती है? अशोक का वह उग्र बन्दीगृह क्या इस तरह परास्त हो जायेगा?

व्यङ्ग की कुटिल मुस्कान उसके होंठों पर नाच उठी।

२७

पाटलिपुत्र में हलचल है। गङ्गातट से लेकर सुगांग प्रासाद तक सैनिकों का ताँता लगा है। कान्यकुब्ज और रोहिताश्व से बुरे समाचार

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में ही सम्राट् के संरक्षक दल में कामिनियाँ ही रहतीं, वे भी यावनियाँ। कौशेय वसन, कटिबंध में कृपाणी और हाथों में त्रिशूल!

डफ, मृदङ्ग, भेरी और तूर्य के सम्मिलित महाघोष से दिग्दिगन्त गूँज उठा। सम्राट् सिंहासन पर बैठे। क्षण भर से सब निस्तब्धता।

एक क्षण बाद सम्राट ने पुष्यमित्र को देखा।

परन्तु वृद्ध कर्तव्यनिष्ठ मन्त्री की भौंहों पर बल नहीं पड़े। कठोर स्वर में उन्होंने आज्ञा दी—'बंदी अग्निमित्र लाया जाये।'

लौह शृङ्खलाओं में जकड़ा अग्निमित्र उपस्थित हुआ। महादण्ड-नायक पीछे-पीछे।

सम्राट् ने पूछा—अग्निमित्र, क्या तुम अपने को निर्दोषी सिद्ध कर सकते हो?'

अग्निमित्र सिंहशावक की तरह निर्भीक था। उसकी स्वाभाविक दुर्बलता उसे छोड़ गई हो जैसे।

उसने कहा—'इन मागधों और मालवों के सम्मुख मैं यही कह सकता हूँ, अग्नि ने कुछ नहीं किया, अग्निमित्र निर्दोषी है।'

सम्राट् ने पुष्यमित्र की ओर देखा। पुष्यमित्र ने उपस्थित पतंजलि ऋषि की ओर। वे पुष्यमित्र के ऋत्विज के नाते उपस्थित थे।

वृद्ध सेनापति ने अग्नमित्र की ओर न देखते हुए कहा—'इस पर अराजकता का अभियोग है।'

सम्राट् ने अग्निमित्र को देखा।

अग्नि चुप।

पुष्यमित्र कहते गए—'सम्राट् का कहना है, इसने एक राजबंदिनी को मुक्त किया, और उसकी रक्षा के निमित्त मगध सेना से युद्ध किया। मालवो, मागधो, इसे हम अभियोग मानते हैं।'

बृहस्पतिमित्र के मुख पर व्यंग की हँसी दौड़ गई।

क्षण भर में बन्धन काटे जाने लगे।

पुष्यमित्र ने धीरे से कहा—'यह तो राजाज्ञा की अवहेलना रही।'

वृहस्पतिमित्र और हँसे—'तो क्या आप इतने कड़े कार्य के लिए मुझे उपयुक्त समझते थे? क्या मैं उसे मृत्यु के मुख में भेजता?'

सब इस परिवर्तन को आश्चर्य से देखने लगे।

सम्राट् सिंहासन से उतर कर अग्निमित्र तक आये। उन्होंने धीरे से कहा—'तुम मालव हो। मालव वचन से फिरते नहीं। तुम्हें मेघवाहन को द्वन्द्व में परास्त करना होगा।'

उसी तरह वीरदर्प से खड़े अग्निमित्र ने कहा—'सम्राट् की आज्ञा मुझे शिरोधार्य है।'

अपनी मणिबन्ध वाली कृपाणी वृहस्पतिमित्र ने अग्निमित्र के हाथ में रख दी। उन्होंने कहा—'तो यह लो! यह मौर्यों का खड्ग तुम्हें विजय दे!'

तभी जनसमूह में से कोई नारी कण्ठ सुनाई पड़ा। कालिन्दी थी। उसने मण्डप-गृह के प्रवेशद्वार पर रखे मंच पर खड़े होकर कहा—'परन्तु इससे पहले आचार्य पतञ्जलि, सेनापति और सेना के सामने सम्राट् को उत्तर देना होगा।'

वृहस्पतिमित्र की आँखें उधर ही घूम गईं। उन्होंने क्रोध से कहा—'तुम स्वतन्त्र नारी, क्या चाहती हो?'

कालिन्दी सैनिक भेष में सामने आ गई। 'सम्राट्, मुझे पहचानते हैं, यह अच्छा ही है, परन्तु स्वतन्त्र नारी कह कर नन्दराज कन्या और मागधी का अपमान वे नहीं कर सकते।'

वृहस्पतिमित्र के तेवर भी बदलने लगे। उस दिन कालिन्दी ने इरावती को उनसे छीन लिया था। किस बल पर यह लड़की कूदती है! उन्होंने उत्तर दिया—

'तुम विद्रोहिणी हो, कालिंदी ! बृहस्पतिमित्र तुम्हारे विरोध से डरेगा नहीं । दंडनायक, इस युवती को बन्दी करो !'

अग्निमित्र की लोह-शृङ्खला बज उठी । वह उत्तेजित हो रहा था ।

कालिन्दी डरी नहीं उसने कहा,—'मौर्यराज, यह पत्र मेरे पास है, जो आपने कलिंग चक्रवर्ती खारवेल को लिखा है । विदेशी शत्रु को आक्रमण करने का निमन्त्रण देने वाला मगध के सिंहासन का भोक्ता नहीं होता ।'

धर्मचक्र से चिन्हित राजपत्र उसने उठा कर सैनिकों को सम्बोधन किया—'मगध के सैनिको, सेनापति पुष्यमित्र देखें, राजगृह से सेना चल पड़ी है और घड़ी-दो घड़ी में मगध पर कलिंग की राजध्वजा फहरायेगी । कलिंग के गुप्तचर यहाँ भी हैं । हम सुरक्षित नहीं हैं । बृहस्पतिमित्र ने देश को जैनों के हाथ बेच दिया है ।'

सेना में उत्तेजना फैल गई । भीषण कोलाहल हुआ ।

सम्राट् ने देखा, कालिन्दी की बातों का प्रभाव बढ़ रहा है । परिस्थिति हाथ से निकली जा रही है । क्या करें !

'खारवेल ने आक्रमण किया है । यवन कान्यकुब्ज से आगे बढ़ गये हैं । यहाँ गृहयुद्ध की घटाएँ उमड़ रही हैं । सैनिक, मौर्यों के धर्मध्वज देश के फाटक विदेशियों के लिए खोल दिये हैं ! तुम्हें क्या कहना है ।'

कुछ लोगों ने कुछ अस्पष्ट ध्वनि की ।

कालिन्दी गरज उठी—उसने कहा, 'अग्निमित्र मुक्त हो और बृहस्पतिमित्र सिंहासन-च्युत !'

सहसा वृद्ध पुष्यमित्र मंच पर खड़े हो गये । कोलाहल थमी हुई सेना शान्त हो गई जैसे मन्त्र ने विषैले सर्प को कील दिया हो !

उन्होंने कहा—'घमंडी लड़की, यह राजसभा है, न्यायालय नहीं है । बृहस्पतिमित्र के दोषों का दंड देने वाली तुम कौन होती हो ?'

उसी समय तुमुल घोष उठा—'सेनापति अग्निमित्र को मुक्त करें ।'

कालिन्दी ने हँस कहा—'यह प्रजा की वाणी है, सेनापति! एक दिन इसी प्रजा की वाणी चाणक्य के कंठ से बोली थी, जब ब्राह्मण चाणक्य ने नन्दराज के अत्याचार के प्रतिकार के लिए अपनी शिखा छोड़ दी थी। आज इस मगध की जन-वाणी की उपेक्षा नहीं की जा सकेगी।'

'बन्दी कर लो'—बृहस्पतिमित्र ने फिर ललकार दी! 'दुर्मुख, लाना मत्त मातंग!

क्षण भर में मत्त मतंगज अग्निमित्र के सामने झूम रहा था। कालिंदी बन्दी थी!

'तुम कायर हो! मगध के सैनिकों! क्या तुम मगध माता के दूध का ऋण इसी तरह चुकाते हो'—कालिन्दी वीरदर्प से गरजी, परन्तु कोलाहल में उसकी आवाज़ खो गई!

'मातलि, गज को आगे बढ़ाओ!'

सब फिर निस्तब्ध!

'मातलि, मगध सम्राट् की आज्ञा! इन दोनों विद्रोहियों को प्राणदंड!'

'ठहरो!' पुष्यमित्र की कंठध्वनि गूँज उठी। सब जैसे तडित्-ताडित् हो उठे।

मंच से आगे बढ़ते हुए पुष्यमित्र ने कहा—'सम्राट्, अग्निमित्र के लिए मेरा कोई अनुरोध नहीं है। अनुरोध के बिना भी अपनी शक्ति पर सेनापति पुष्यमित्र इसे मुक्त कर सकता था, परन्तु एक बात का उत्तर पहले सम्राट् को देना होगा।'

'यह विद्रोह है!' भीरु सम्राट् का हृदय दहल गया।

'पुष्यमित्र अपना कर्तव्य जानता है, सम्राट्! क्या आप उत्तर देंगे?'

'महा-सेनापति के नाते!'

'नहीं, प्रजा के नाते !'

'मगध अराजक नहीं है, पुष्यमित्र ! तुम जिस विद्रोह की अग्नि को जला रहे हो, वह सारे देश को भस्मसात कर देगी !'

बृहस्पतिमित्र ने खड्ग निकाल लिया । सिंहासन से खड़ा हुआ, मणि-माणिक्यों से अलंकृत वह खड्ग मध्याह्न के सूर्य के प्रकाश में इन्द्र के वज्र की तरह चमक उठा ।

'यह खड्ग तुम्हारा उत्तर देगा !'

परन्तु जनता के कोलाहल ने उसे सुना नहीं । भीड़ उमड़ पड़ी थी । भाले धारण किये अश्वारोही मंच की ओर बढ़ने लगे । 'अग्निमित्र की जय, पुष्यमित्र की जय,' से सारा वातावरण क्षुब्ध हो उठा । सहसा लौह-शृङ्खलाएँ झनझना उठीं । अग्निमित्र मुक्त था । सैनिकों ने उसके बन्धन खोल दिये थे । बृहस्पति को लगा, परिस्थिति उसके वश में नहीं रही ।

उसने खड्ग तान कर कहा—'मागधों, मौर्य मरना भी जानते हैं । पीछे हटो । राजहत्या का कलंक मत लो !'

'सिंहासन छोड़ दो !'

इस विषम परिस्थिति में भी बृहस्पतिमित्र को हँसी आ गई । उसने कहा—'मैं मौर्य हूँ । सम्राट् चंद्रगुप्त का रक्त मेरी बाहुओं में है । मेरे पूर्वजों ने गंगा माता का दूध पिया है । हटो, नहीं तो प्राण जायेगा ।'

यह मत्त मातलि के पास आ खड़ा हुआ था । उसने पूछा—'सेनापति, तुम क्या कहते हो !'

'राजदंड अब प्रजा के हाथ में है । सेना से पूछो !'

'सेना केवल पुष्यमित्र को जानती है, यह क्या तुम्हें नहीं पता ?'

सहसा बृहस्पतिमित्र ने मातलि को ललकारा और मत्त मातंग की सूँड़ से लिपट गया । भय और हर्ष से लोगों ने देखा, सम्राट् बृहस्पतिमित्र हाथी की सूँड़ में झूल रहे हैं । उनका खड्ग इसी तरह

धूप में चमक उठता है। इस क्षणिक परिवर्तन से सब अवाक् रह गये।

पुष्यमित्र चिल्ला पड़े।

'मातलि, गज को रोको!'

परन्तु मातलि के उपाय करने पर भी मातङ्ग शान्त नहीं हो सका। उसकी सूँड़ कभी पृथ्वी को आ जाती, कभी आकाश में उठ जाती और बृहस्पतिमित्र का शरीर उसके साथ हवा में झूल जाता।

उसी समय मुक्तकेशी इरावती वहाँ आ गई। कालिंदी जहाँ उसे छोड़ आई, वहाँ वह अधिक देर तक नहीं रह सकी थी। उसने सोचा था, अग्निमित्र की आपत्ति के समय उसे इस तरह बैठा रहना शोभा नहीं देता।

बृहस्पतिमित्र को इस तरह जीवन और मृत्यु के बीच में झूलते देख कर उसने चीत्कार की।

गजराज ने सम्राट् को उठा रखा था। ऊपर से उन्होंने इरावती को देखा—उनकी आँखों में चमक जल उठी।

'इरावती!' उनका क्षीण कंठ सुनाई पड़ा। गज ने एक भयंकर चीत्कार किया।

'इरावती, मैं चला!' परन्तु कोलाहल और चीत्कार में इरावती वह शब्द सुन न सकी। मातंग ने सूँड़ को एक अन्तिम हिलकोर दी और तब एक झटके के साथ बृहस्पतिमित्र के शिथिल शरीर को पाँव के नीचे ला पटका और उसे रौंदता हुआ चला गया।

सैनिक भय से चीत्कार कर उठे। इरावती मूर्च्छित हो गई। अग्निमित्र और पुष्यमित्र स्तब्ध थे। केवल कालिन्दी प्रसन्न थी। आज नन्द का ऋण चुक गया था।

सहसा तोरणों और प्राचीरों की ओर से रणभेरियाँ बज उठीं। भीषण कोलाहल उठा। भागते हुए चरों ने रंगस्थल में प्रवेश

एक सप्ताह से पाटलिपुत्र का घेरा है। मागध त्रस्त हैं। भीतर पुष्यमित्र ने परिस्थिति सँभाल ली है। दुर्ग की रक्षा के लिये धनुंधरों की दुर्भेद्य पंक्ति रात-दिन तैयार है। शतघ्नियाँ शत्रु की आट देख रही हैं। गुप्त द्वारों से निकल कर कभी-कभी मागध भीषण आक्रमण करते हैं। यवन पीछे हट जाते हैं, परन्तु फिर अपने स्थान पर लौट आते हैं। खारवेल की कलिंग-सेना अधिक क्रियाशील नहीं है। वह केवल एक पार्श्व को दबाए पड़ा है। मगध का जन-जन इस आसन्न विपत्ति के अवरोध के लिये कटि-तत्पर संग्राम भूमि में उतर आया है। पतंजलि के 'कर्मयोग' के उपदेशों और वासुदेव धर्म के जय-जयकारों ने बौद्धों की निष्क्रियता को हिला दिया है। ऐसा लगता है, जैसे मगध की काया-कल्प हो गई।

रात आधी से अधिक जा चुकी थी। तोरणों पर अब भी प्रकाश उसी तरह सतर्क है। परन्तु अँधेरी रात की भयंकरता उससे एकदम नष्ट नहीं हो पाती। ऐसे समय में पश्चिम के तोरणों से बच कर काष्ठ प्राचीर पर एक छाया-मूर्ति चुप-चुप आगे बढ़ी। उसने क्षण भर ठहर कर कुछ सुना।

जिस ओर यह मूर्ति बढ़ रही थी, उस ओर बौद्धों का कुक्कुटाराम विहार था।

एक घनी झाड़ी के पीछे छिप कर मूर्ति ने एक दीप जलाया और उसे आरती के ढंग पर घुमाने लगी। निःसंदेह वह किसी नई चित्रभाषा में शत्रु को कोई संदेश भेज रही थी।

विहार के तोरण के ऊपर भी इसी तरह दीपक हिलने-डुलने लगा।

इसी समय छायामूर्ति के पीछे कोई दूसरी मूर्ति आ खड़ी हुई। उसने मूर्ति को ललकार—

'कौन हो तुम?'

'मूर्ति चुप।'

कित हो सैनिक इधर दौड़ पड़े थे। वे पास आ गये थे। खड्ग चलाते-चलाते युवक खारवेल के हाथ थक गये थे। यह अब स्पष्ट जान पड़ता था।

इतने में पास आते हुए सैनिकों के पीछे आवाज उठी—'अग्निमित्र! तुम कहाँ हो? यह खड्ग-युद्ध कैसा?'

अग्निमित्र भी थक गया था। उसने चिल्ला कर—'तुम आ गईं, कालिंदी।' यह कोई कलिंग-तरुण है, परन्तु वीर है।

कालिंदी पास आ गई। प्रकाश इतना नहीं था कि वह युवक को पहचान पाती। उसने सेना को ललकारा। भीषण युद्ध होने लगा।

परन्तु इस साहसी युवक ने कितने मागधों के खड्ग तोड़ डाले। स्वयं कालिंदी भी आहत हो गई।

उसी समय कुछ उल्काधारी वहाँ आ गये। उनका प्रकाश पड़ते ही कालिंदी चिल्ला उठी—'यह तो स्वयं खारवेल हैं। कलिंग चक्रवर्ती खारवेल। अग्निमित्र, युद्ध बन्द करो।'

अग्निमित्र ने खड्ग रोक लिया। सैनिक अवाक् निस्तब्ध रह गये।

खारवेल हाँप रहे थे। उन्होंने कहा—'कालिंदी, क्या तुम मेरे ऊपर विश्वास करती हो?'

कालिंदी ने आश्वस्त स्वर में कहा—'चक्रवर्ती, मगध का कोई अनिष्ट तुमसे नहीं हो सकेगा। अब बृहस्पतिमित्र का शासन नहीं रहा। नंद का ऋण चुक गया। अब मगध पुष्पमित्र के दृढ़ हाथों में है। और चक्रवर्ती खारवेल तो हमारे मित्र ही हैं।'

अग्निमित्र खारवेल के पास आ गया। उसने कहा—'कलिंग मगध का मित्र राष्ट्र है। अग्रजिन की प्रतिमा आज से एक सप्ताह के भीतर उपयुक्त समारोह के साथ महामेघवाहन के शिविर में पहुँच जायेगी।'

खारवेल ने कालिंदी को देखा। वह खड़ी मुस्करा रही थी।

उसने धीरे से कहा—'तुम ठीक कहते हो, अग्निमित्र। खारवेल,

इतना अदूरदर्शी नहीं है। जब तक यवन शतद्रु के उस पार नहीं चले जाते, तब तक न कलिंग सुरक्षित है, न मगध। इसीलिए मैं यहां आने का साहस कर सका था। रात्रि के तीसरे प्रहर में मेरी नौवाहिनी तैयार कर यवनों पर आक्रमण करेगी। उसी समय मगध की सेना पश्चिम द्वार से आक्रमण करे।'

'कलिंग चक्रवर्ती की जय!' उत्साहित हो कर अग्निमित्र चिल्ला उठा।

कालिंदी ने कहा—'मैं यह शुभ समाचार देने सुगांग प्रासाद जा रही हूं। सेनापति को जानना चाहिये।'

वह अश्व पर चढ़ कर चली गई।

खारवेल ने अग्निमित्र से पूछा—'वह बौद्ध कहां गया?'

बौद्ध भिक्षु की खोज की जाने लगी, परन्तु वह भाग गया था।

खारवेल ने कहा—'यह बौद्ध एक गुप्तचर के इस नगर में आया था। फल्गुक ने मुझे संदेश दिया था कि बौद्ध विहार के स्वर्णिम दुर्ग के भीतर से कुछ समाचार यवनों के हाथों बेच रहे हैं। इसलिए मैंने इसके पीछे आने का साहस किया। बौद्ध इस समय खारवेल के बंदी होंगे।

यह रात पाटलिपुत्र के लिए भाग्य निर्णय की रात थी। खारवेल के उत्साह ने मागधों को जीत लिया था। खारवेल कालिंदी से प्रभावित था, या सहायकों से यह बताना कठिन था। इस तुमुल चपेट के अन्त में यवन छिन गये। मगध ने एक बार फिर अपने को सँभाल लिया और खारवेल ने आगे बढ़ कर दिमित्र और मिलिन्द को मथुरा की ओर भागने को विवश किया। मध्यदेश से यवन बराबर पीछे हटे। खारवेल आँधी की तरह बढ़ता था और यवन इस अप्रत्याशित बवंडर से त्रस्त हो उठे। इसी युद्ध में किसी मागध के विषैले तीर ने मिलिन्द के प्राण ले लिये। मगध और कलिंग की सम्मिलित सेना ने सिंधु के दाहिने तट पर यवनों को

ऐसी भीषण हार दी कि वे गांधार की ओर भागे। शाकल पर मगध का गरुड़ध्वज फहराने लगा।

इस महान पराक्रम के बाद अग्निमित्र और खारवेल की सम्मिलित कलिंग-मगध-वाहिनी मगध लौटी। सुगांगेय प्रासाद के महा-प्रांगण में पुष्यमित्र और पतंजलि ने दोनों विजयी वीरों का स्वागत किया।

२६

क्रांति के समाचार अवन्ति होते हुए पतञ्जलि के आश्रम में भी आ जाते थे। शिप्रा की लहरियाँ भी 'वासुदेव की जय', 'महाकाल की जय' से प्रतिध्वनित होने लगी थीं। पाटलिपुत्र में वृहस्पतिमित्र के आत्म-घात और यवनयुद्ध के समाचार थोड़े ही दिनों में इन्दु, रत्नाम्बर और दिवाकर को मिल गये।

इन्दु पिता पतञ्जलि के लिए चिंतित रहती थी। अब उसकी आँखों में एक नया उन्मेष है। यौवन की पहली सीढ़ियाँ वह पार कर रही है।

रत्नाम्बर अब दिवाकर को नहीं छेड़ता ।वह गम्भीर रहता है। पाटलिपुत्र के राज-परिवर्तन ने उसे कुछ क्षुब्ध कर दिया है। दिवाकर अपना पाणिनी घोट चुका है। वह आचार्य के महाभाष्य की प्रतिलिपि में लगा है।

दोपहर का समय था। इन्दु कुटी में विश्राम कर रही थी। दिवाकर मालतीकुंज में भोजपत्र पर महाभाष्य की प्रतिलिपि तैयार कर रहा था। रत्नांबर अवन्ति गया हुआ था।

इन्दु की तंद्रा टूटी तो उसने देखा, रत्नांबर कुटी के द्वार पर खड़ा हुआ है। उसकी आँखों में ऐसा भाव है, जो उसे लज्जित किए देता है।

अच्छे लगे हो, परन्तु इतने नहीं। दिवाकर कुछ अधिक सौम्य है, तुम कुछ अधिक उद्धत हो। पिताजी मुझे उसी युवक से विवाहने की बात कहते थे।'

रत्नांबर पीला पड़ गया। उसने कहा—'इन्दु, कितने दिन से मैं अपने हृदय में तुम्हारी मूर्ति रखता आया हूँ। आश्रम की देवी के रूप में मैंने तुम्हारी पूजा की है। मैंने तुम्हें कितना हँसाया है, कितना रुलाया है। यह सब क्या व्यर्थ जायगा, इन्दु !'

इन्दु बोली नहीं। भीतर-भीतर वह बड़ी उद्विग्न हो रही थी। क्षण भर बाद उसने कहा—'रतन, इस आश्रम में मैंने तुम दोनों और पिता के अतिरिक्त अधिक लोगों का स्नेह नहीं पाया है। उस स्नेह का बदला चुकाना मेरे बस में नहीं है। होता तो भी वह चुका पाती, यह नहीं कह सकती।'

रत्नांबर की आँखों में आँसू छलक आये। उसने धीरे से कहा—'मैं सब समझा इन्दु ! परन्तु मेरा तुम पर कोई विशेष आग्रह भी तो नहीं है। परन्तु कभी-कभी इस रतन को भी याद कर लेना, इसने भी तुम्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा की है !'

इन्दु की भी आँखें भीग रही थीं। उसने अंचल से इन्हें पोंछते हुए कहा—'कई दिन से तुम मुझसे यही कहना चाहते थे, रतन ! परन्तु इतनी बड़ी तपस्या मैं नहीं सह सकती थी। इसी से मैं अलग-अलग। आज तुमने कह दिया। अच्छा होता, तुम पिता से अनुरोध करते। इन्दु तो पहले ही छली गई है।'

रत्नांबर जाने लगा। द्वार के पास पहुँचते हुए उसने कहा—'इस दुर्बलता के लिए क्षमा करना, इन्दु। ब्राह्मण-कुमार का मार्ग सुख-भोग और ऐश्वर्य का नहीं है। अब मैं पिता पतञ्जलि के महत्व को समझ

गया हूं। मैं आजीवन कुमारव्रती रह कर तुम्हारे पिता के पथ पर चलूँगा। तभी तुम्हारी स्मृति मुझे दग्ध नहीं करेगी?

तभी दिवाकर आ गया।

'अरे, तुम दोनों क्या करते हो? ए बन्धु रत्नांबर, यह तुम रो-से रहे हो! न न! कोई बात है।' परन्तु सुनो, अवंति के उपरिक ने सन्देश भेजा है। आज एक सार्थ कुसुमपुर जा रहा है। उसी के साथ हम, तुम, इन्दु चलेंगे, ऐसी व्यवस्था पिता पतञ्जलि ने कर दी है।

रत्नांबर ने अपने आँसू पोंछे।

'हाँ हाँ, दिवाकर? मैं अवन्ति से कुछ ऐसे समाचार सुन कर चला था, जो मन को उद्विग्न कर रहे थे।'

'हाँ, इन्दु!' अब वह स्वस्थ हो गया था। 'हम कुसुमपुर चलेंगे, मैं, तुम और यह बन्धु दिवाकर और इसका पाणिनी का पोथा।' उसी हँसी से कुटी गूँज उठी, परन्तु उस हँसी के पीछे दुःख के जो तार छिड़ रहे थे, उन्हें दिवाकर कहाँ सुन सका।

पाटलिपुत्र जब वे पहुँचे तो वहाँ उत्सवों और समाजों की नदी उमड़ रही थी। अग्रजिन की प्रतिमा बड़े समारोह से कलिंग पहुँच गई थी। जिस समय यह प्रतिमा कलिंग पहुँची उसी समय खारवेल को पता चला, पट्टमहिषी सिंधुला ने मातृपद ग्रहण किया है। सारा कलिंग हर्ष में डूब गया। बड़े पूजा-आयोजन के साथ अग्रजिन की प्रतिमा पार्श्वनाथ पर्वत पर जिन मन्दिर में स्थापित की गई। रानी सिंधुला ने अपार धन व्यय कर मन्दिर के प्रांगण में चार खंभे (स्तंभ), जिनमें वैदूर्य जड़े थे, स्थापित किये। वहीं अग्रजिन की प्रतिमा की छाया में क्षेमराज के पौत्र जन्म का उत्सव हुआ।

पतञ्जलि के आदेश से पुष्यमित्र ने मगध-सम्राट् का पद स्वीकार कर लिया और एक धर्माधिकरण के उपलक्ष में एक महान् अश्वमेध यज्ञ का आयोजन किया गया। पाटलिपुत्र के अतिरिक्त अयोध्या, विदिशा,

पइट्ठान, भरुकच्छ, शूर्पारिक आदि के पराय-प्रधान और सामंतगण इकट्ठे हुए। भारहुत, कौशांबी, अहिच्छत्रा, मथुरा आदि से नये शुंग-सामंत सहस्र प्रकार की ऐश्वर्य की वस्तुएँ उपहार रूप में लाये। इस यज्ञ के उपलक्ष में तक्षशिला के यवन राजा स्त्राता ने अनेक अमूल्य उपहारों के साथ एक यवन-दूत भेज कर प्रार्थना की—सिंधु के उस पार के प्रदेश में यवनराज भगवान वासुदेव के गरुड़ध्वज की स्थापना करना चाहते हैं। ये गरुड़ध्वज यवन और शुंग राष्ट्रों में मैत्रीभाव के सूचक होंगे। देवों के देव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज यवनों और आर्यों को एक सूत्र में बाँधेगा। इस यज्ञ में अनेक गणराज्य भी सम्मिलित हुए। यौधेय, राजन्य, औदुम्बर, आर्जुनायन, शालंकायन, वामरथ, वृष्णि, और कुलिन्द गणों के राजपुत्रों ने इस यज्ञ में उपस्थित होकर मगध की अधीनता स्वीकार की।

इस यज्ञ के ऋत्विज थे पतंजलि। जब पुष्यमित्र ने उनके दक्षिण कर में महासूत्र बाँधा तो उपस्थित जनता ने 'जय वासुदेव' का महाघोष किया। यज्ञ के बाद प्रवचन देते हुए महर्षि ने गर्जना की—

"मागध सुनें। मालव सुनें। शिवि, वृष्णि, यौधेय, राजन्य, औदुम्बर आदि गणों के राजपुत्र सुनें। महासेनापति पुष्यमित्र अब मगध के सम्राट् हैं। बौद्धों का कुचक्र समाप्त हो गया है। ५०० वर्षों से भारतीय आर्य-इतिहास के निर्मल जल के ऊपर जो शैवाल जाल छा गये थे, वह नष्ट हुए। आज ब्राह्मणों का शिखा-सूत्र सुरक्षित है। वासुदेव के गरुड़ध्वज की छाया में धन्य-धान्य से पूर्ण यह आर्य देश सुख, सम्पत्ति और शान्ति का लाभ करे।

मागध सुनें। मालव सुनें। गणराज्य सुनें। बौद्धों ने अहिंसा का हौआ खड़ा कर दिया था। प्राचीन आर्य-आदर्श लोग भूल गये थे। अब आवश्यकता इस बात की है कि हम महाभारत और रामायण सदृश अपने नीति-ग्रन्थों का उद्धार करें और उनमें बताये हुए श्रेष्ठ आर्य-मार्ग

पर करो। भगवद्गीता के इस महामंत्र की इस अश्वमेध के अवसर पर, मैं घोषणा करता हूँ—'हत्वापि न इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते' (वह संसार का खात्मा मार कर भी नहीं मारता और न पाप के बन्धन में फँसता है।) निष्काम आदर्श की साधना के लिये हिंसा और अहिंसा दोनों साधन मात्र हैं। इसीलिये आज इस युद्ध प्रांगण का सन्देश है—निरंकुश दृढ़: स्याम् (सदा अपने हृदय को उदार रखो।)

यज्ञ समाप्ति पर इरावती और अग्निमित्र के पाणिग्रहण की घोषणा की गई। कालिंदी ने स्वयम् पुष्यमित्र से इसकी स्वीकृति कराई थी। जब कलिंग चक्रवर्ती ने उसको कलिंग चलने को कहा तो कालिंदी ने नहीं कहा—यहीं इरावती है मेरी सहेली। फिर मगध के सिवा भी कहीं भी कुछ अच्छा नहीं लगता। सम्राट्, इस अनुग्रह के लिये कालिंदी कृतज्ञ रहेगी, परन्तु वह रहना चाहेगी। इस त्याग के पीछे क्या रहस्य है, यह कौन जान सकता था! कलामयी कालिंदी ने खारवेल को हराया, इरावती का दान कर अग्निमित्र को हराया।

उस दिन सुगांग प्रासाद में ही पुष्यमित्र के सामने अग्निमित्र को बुला कर पतंजलि ने कहा—'अग्नि, तुम इन्दु से नहीं मिले?'

'मिला, आचार्य!'

पतंजलि ने पुष्यमित्र की ओर देखकर मुस्कराते हुए कहा—'इस मेरी दीन पुत्री का उद्धार क्या अग्निमित्र नहीं कर सकेगा?' अग्निमित्र के बदले कहा—'मित्र अग्नि, इन्दु तुम्हारी दासी बन कर तुम्हारे साथ विदिशा जाना चाहती है। इरावती को इससे ईर्ष्या नहीं होगी। मैं उसे जानता हूँ। पुष्यमित्र मगध का पुत्र है। उस पर तुम्हारे जैसे तनय की कृपा चाहिये। फिर यवनों और विदर्भराज यज्ञसेन अवन्ति की सीमाओं पर सिंह की भाँति गर्जना कर रहे हैं। जाओ अग्निमित्र, पिता के हौसलों को बढ़ाओ। प्रमाद मत करो। मगध साम्राज्य की दक्षिणी सीमा छिनी नहीं है, बढ़ी है, इसे याद रखो। तो तुम इन्दु को स्वीकार करते

हो न ! वह सौम्य मालविका तुम्हारी और इरावती की सेवा कर अपने को धन्य मानेगी।

अग्निमित्र ने पिता की ओर देखा।

'जो आज्ञा दें, आचार्य।'

तभी सम्राट् पुष्यमित्र ने सिंहासन से उठते हुए कहा—'वासुदेव के पूजन का समय हो गया, आचार्य! चलें। उपासक प्रतीक्षा करते होंगे।'

सुगांगेय प्रासाद के चौक में बने वासुदेव के महामन्दिर की ओर से डफ, मृदंग, घड़ियाल और भेरी का घन-घोष उमड़ता, लहराता, दहाड़ता इस तरह आता था जैसे आँधी में समुद्र मर्यादा छोड़ कर थल की ओर दौड़ता है। मन्दिर में पूजा का भार रत्नाम्बर-दिवाकर पर ही था। उस ओर जाते हुए आचार्य ने एक क्षण सोचा—रत्नाम्बर अब उतना उद्यत नहीं रहा। इन्दु को वह कितना प्यार करता था।

मन्दिर के विशाल प्रांगण में एक महान स्वर्ण स्तम्भ पर माणिक और वैदूर्य से अलंकृत गरुड़ध्वज की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। डूबते हुए सूर्य की अन्तिम किरणों में वह चमक रहा था, जैसे भगवान वासुदेव ने भक्तों को आश्वस्त करने के लिये अपने दोनों हाथों से मन्दिर पर छाया कर दी हो। स्तम्भ के दोनों ओर फैले पंखों के रत्न गोधूलि के प्रकाश में अलौकिक आभा बिखेर रहे थे।

सारा सुगांगेय प्रासाद 'जय वासुदेव, जय वासुदेव' के महामंत्र से गूँज रहा था। एक नई धर्म-भावना से भरे हुए पतञ्जलि और पुष्यमित्र उसी ध्वनि की ओर जा रहे थे। नये धर्मचक्र का प्रवर्तन हो चुका था।